ISSN 2349 - 1906

साहित्य यात्रा

वर्ष 1 अंक 2 जुलाई-सितम्बर 2014

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

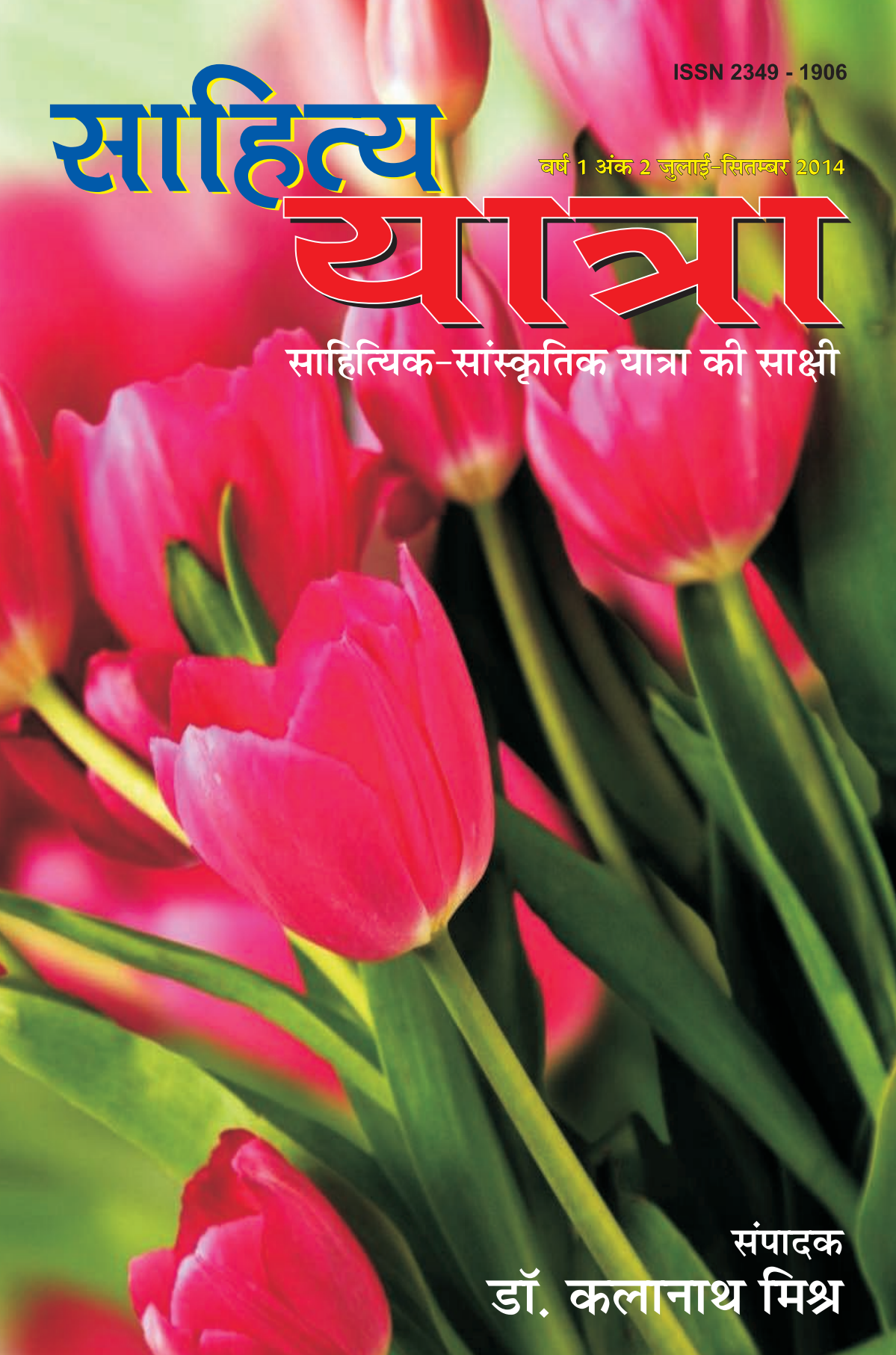

संपादक
डॉ. कलानाथ मिश्र

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद
तिवारी के साथ
डॉ. कलानाथ मिश्र

बैंगलोर पुस्तक मेला, 2012 में
साहित्य अकादमी के अध्यक्ष
श्री विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के
साथ डॉ. सीताकांत महापात्र

श्री चंद्रशेखर काम्बरा एवं
श्री विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

संपादक

डॉ० कलानाथ मिश्र

साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

वर्ष-1 अंक-2 जुलाई-सितम्बर, 2014

परामर्शी

डॉ० सूर्य प्रसाद दीक्षित
डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव
डॉ० शोभाकांत मिश्र
डॉ० रामशोभित प्रसाद सिंह
डॉ० संजीव मिश्र

सम्पादकीय सलाहकार
श्री आशीष कंधवे

सहायक संपादक
डॉ० रवीन्द्र पाठक

संपादक
डॉ० कलानाथ मिश्र

साहित्य यात्रा में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार एवं दृष्टिकोण संबंधित लेखकों के हैं जिनसे संपादक, प्रकाशक, मुद्रक एवं पत्रिका से जुड़े किसी भी व्यक्ति का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। सभी विवादों का निपटारा पटना क्षेत्र के अन्तर्गत सीमित है। पत्रिका में संपादन से जुड़े सभी पद गैर-व्यावसायिक एवं अवैतनिक हैं।

साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

RNI No. BIHHIN05272
ISSN 2349 - 1906

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशित सामग्री के पुनः उपयोग के लिए लेखक,
अनुवादक अथवा साहित्य यात्रा की स्वीकृति अनिवार्य है।

संपादकीय कार्यालय
'अभ्युदय'
ई-112, श्रीकृष्णपुरी
पटना-800001 (बिहार)
मोबाइल : 09835063713
ई-मेल : sahityayatra@gmail.com

मूल्य : ₹ 45

शुल्क दर :

एक वर्ष (4 अंक)	₹ 300
तीन वर्ष (12 अंक) (डाक खर्च सहित)	₹ 750
संस्थागत मूल्य (3 वर्ष)	₹ 1100
आजीवन सदस्यता	₹ 11,000
विदेश के लिए	60 डॉलर (3 वर्ष)

शुल्क **'साहित्य यात्रा'** के नाम पर भेजें।

'साहित्य यात्रा' त्रैमासिक डॉ० कलानाथ मिश्र के स्वामित्व में और उनके द्वारा 'अभ्युदय' ई-112, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001, बिहार से प्रकाशित तथा आभा पब्लिसिटी, 163, देशबंधु गुप्त मार्केट, करोलबाग, नई दिल्ली से मुद्रित। स्वामी/संपादक/प्रकाशक/मुद्रक : डॉ० कलानाथ मिश्र।

अनुक्रम

संपादकीय
डॉ. कलानाथ मिश्र
युग चेतना की पुकार 7–8

साक्षात्कार
डॉ. कलानाथ मिश्र
डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के साथ कलानाथ मिश्र की बातचीत 9–15

डायरी
ज्ञानप्रकाश विवेक
डायरी में समय की गूंज 16–22

चिंतन
कुन्दन माली
मानवीय गरिमा की संवेदनशील चिन्ता 23–38

यात्रावृत्त
माधव कौशिक
विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के यात्रवृत्त 39–44

डायरी
ओम निश्चल
निजता का घेरा 45–48

मंथन
अरविन्द त्रिपाठी
विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की कविता 49–64

चिंतन
रेवती रमण
सर्जनात्मक आलोचना से गुजरते हुए 65–73

कहानी
मधुकर सिंह
पहला पाठ 74–82

पुस्तक समीक्षा
डॉ. ध्रुव कुमार
बिहार के लोक साहित्य में 1857 की अनुगूंज 83–86

विमर्श
चिरंजीव
मैथिलीशरण गुप्त की समन्वयवादी भावना 87–91

दृष्टि
रविशंकर
दलितों को ओमप्रकाश वाल्मीकि का 'सलाम' 92–96

युग चेतना की पुकार

कोई भी साहित्य या साहित्यकार अपने परिवेश और तत्कालीन परिस्थितियों की उपज होता है। वह अपने समय की गतिविधियों और हलचलों से प्रभावित होता है तथा अपनी रचना में उसे रूपायित करने का प्रयास करता है। इसी बात को लक्षित करते हुए प्रेमचंद ने कहा था कि मैं तो सरकंडे का पौधा हूँ। जैसी हवा चलती है वैसी ध्वनि मुझसे निकलती है। हालाँकि इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि साहित्यकार पूर्णरूपेण परिस्थितियों का दास होता है और उसके निजी व्यक्तित्व का कोई स्वतंत्र अर्थ नहीं होता। परंतु इतना तो तय है कि जो साहित्यकार अपने समय की प्रतिध्वनियों से आंदोलित नहीं होता, युगचेतना की पुकार से अनुप्राणित नहीं हो पाता, वह साहित्यकार तो दूर एक जागरूक नागरिक या प्रबुद्ध व्यक्ति भी नहीं कहा जा सकता। हम कालिदास से लेकर आधुनिक काल तक के रचनाकारों में उनके समय की गतिविधियों को देख सकते हैं। कहीं स्पष्ट रूप में तो कहीं छद्म रूप में।

काल की विभिन्न परिस्थितियों ने अलग-अलग मिजाज के साहित्यिकारों को जन्म दिया जिनकी अपनी-अपनी विशिष्टताएँ एवं पहचान हैं। स्वतंत्र्योत्तर भारत की परिस्थितियों, विडम्बनाओं तथा जनमानस की हताशाओं ने भी ऐसे ही एक साहित्यकार को जन्म दिया जिसका नाम है-विश्वनाथ प्रसाद तिवारी। उनकी रचनाएँ आज की राजनैतिक एवं सामाजिक अराजकता के संत्रास एवं विसंगतियों को बड़ी स्पष्टता एवं निर्भीकता के साथ उजागर करती हैं। दलितों-शोषितों की चीख-पुकार एवं लाचार और बेजुबानों की पीड़ा को अभिव्यक्त करना उनके कविकर्म का मूल उद्देश्य है। तिवारीजी अपनी भिन्न रचनाधर्मिता एवं गहन सामाजिक सरोकारों के कारण अपने समकालीनों में अलग खड़े दिखाई देते हैं। इन्होंने आधुनिक हिंदी कविता, आलोचना, यात्रा वृतांत, संस्मरण तथा पत्रकारिता आदि को अपनी अनूठी रचनात्मकता से एक नया आयाम प्रदान किया है। इनकी कविताओं में सामाजिक विसंगतियों के प्रति आक्रोश तथा आलोचनात्मक निबंधों में गहन चिंतन अभिव्यक्त हुआ है। इनके यात्रा-वृतांतों में सूक्ष्म विवरण तथा संस्मरणों में सघन आत्मीयता के दर्शन होते हैं।

इनके साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है–अभिव्यक्ति की सरलता एवं सहजता। इन्हीं के शब्दों में इन्होंने अपनी रचनाओं में 'दूर की कौड़ी लाने का प्रयास नहीं किया है।' डॉ० तिवारी की विशिष्टता इस बात के लिए भी है कि इनके रूप में हिंदी साहित्य जगत से पहली बार किसी को 'साहित्य अकादमी का अध्यक्ष' होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यह केवल तिवारीजी के लिए ही नहीं, अपितु संपूर्ण हिंदी जगत के लिए गौरव की बात है। आशा है इनकी अध्यक्षता में हिंदी भाषा और साहित्य का और भी विकास एवं प्रसार होगा। तिवारी जी की सरलता, सहजता और किसी भी विषय पर उनकी बेबाक टिप्पणी से मैं सदैव प्रभावित रहा हूँ। गाँव की पगडंडियों से चलकर साहित्य अकादमी के अध्यक्ष तक की यात्रा में आदरणीय तिवारी जी के जीवन में कई ऐसे अवसर आए होंगे जिसका सामना उन्होंने धैर्य और संघर्ष के साथ किया होगा। वे प्रेमचंद की ही तरह कहते हैं कि– मेरा जीवन एक सपाट मैदान रहा है। बहुत ऊँचे–नीचे शिखर–घाटी उसमें नहीं हैं। मेरे जीवन में कोई चमत्कार नहीं हुआ, जितना किया उतना ही पाया। वस्तुतः तिवारी जी ने कभी किसी विचारधारा या वाद में बंधकर नहीं लिखा इसलिए उनकी रचनाएँ किसी मत–मतांतर की प्रचारक तथा दुराग्रही नहीं हैं। उन्होंने देश–समाज की हर परिस्थितियों पर स्वतंत्र रूप से अपनी लेखनी चलायी।

किसी साहित्यकार के व्यक्तित्व को कुछ निबंधों और आलोचनाओं के माध्यम से समग्रता में समेट पाना कठिन है फिर भी **'साहित्य यात्रा'** का यह अंक उन्हीं को समर्पित है जिसमें उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व से संबंधित कुछ विशेष आलेख प्रस्तुत किए गए हैं।

विगत दिनों बिहार के एक संघर्षशील एवं यथार्थवादी कथाकार मधुकर सिंह जी का देहावसान हो गया। मधुकर जी हम सबों के अत्यंत आत्मीय थे। खुले मिजाज और हंसोड़ व्यक्ति थे। उन दिनों पटना की सिन्हा लाईब्रेरी में डा. रामशोभित जी के कारण साहित्य का जीवंत परिवेश हुआ करता था जहाँ हम सब मिल एक कप चाय पर घंटों बातचीत किया करते थे। उनकी कमी पटना के साहित्य समाज को सतत् खलती रहेगी। उन्हें श्रद्धा पूर्वक स्मरण करते हुए इस अंक में उनकी एक कहानी हम प्रकाशित कर रहे हैं।

31 अगस्त 2014
पटना

डॉ. कलानाथ मिश्र
संपादक

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के साथ कलानाथ मिश्र की बातचीत

कलानाथ मिश्र

● **आरम्भिक दिनों में साहित्य की ओर आपका रूझान कैसे हुआ? साहित्य के संबंध में आपकी क्या परिकल्पनाएँ थी?**

◆ साहित्य की ओर मेरा रूझान किसी आकस्मिक या चामत्कारिक घटना के कारण नहीं हुआ। यह भीतर की सहज प्रेरणा से हुआ, जिसके बारे में मैं न तब कुछ जानता था, न अब भी कोई उपयुक्त उत्तर दे सकता हूँ। इस संबंध में संस्कृत काव्यशास्त्रियों का कहना मुझे सही लगता है कि प्रतिभा जन्मजात होती है। उन दिनों, जब मैंने दो कविताएँ लिखी थीं, मेरी उम्र पन्द्रह-सोलह साल के लगभग थी। न किसी साहित्यिक व्यक्ति से मेरी जान-पहचान थी, न मेरे परिवार में ही कला या वैदुष्य की कोई परंपरा थी। माता-पिता की शिक्षा कक्षा चार तक थी और बाबा-ईआ की वह भी नहीं। उन दिनों साहित्य के संबंध में मेरी क्या परिकल्पना हो सकती थी?

● **आप एक कुशल अध्यापक रह चुके हैं। गोरखपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के आप अध्यक्ष भी रहे। साहित्य के अलावा अपने अध्यापन के अनुभवों के बारे में हमें बताएँ।**

◆ साठ वर्षों तक मेरा जीवन अध्यापक का ही जीवन रहा है लेकिन अध्यापन के भी मेरे अनुभव कुछ विशिष्ट या विचित्र नहीं, बल्कि सामान्य ही हैं। मैं विश्वविद्यालय सेवा में तब आया (1970 ई०) जब विश्वविद्यालय अपनी गरिमा खो रहे थे और उन पर सरकारी नियंत्रण बढ़ने लगा था। मेरी विश्वविद्यालय सेवा का पहला दशक ही बहुत

उथल-पुथल वाला था। जयप्रकाश नारायण के संपूर्णक्रांति आन्दोलन के तूफानी दिन थे वे। छात्र अराजक हो रहे थे और परीक्षाओं में खुलेआम नकल हो रही थी। फिर आया आपतकाल। गाड़ी कुछ पटरी पर आई। फिर सत्ता परिवर्तन और विश्वविद्यालयों में परिवर्तन। लेकिन विश्वविद्यालयों के अधिकांश अध्यापकों, जिनमें मैं भी शामिल हूँ, ने अपनी किसी ऐसी भूमिका का निर्वाह नहीं किया, जिसे आज रेखांकित करूँ। अपने बारे में तो मुझे यही कहना चाहिए कि अध्यापन-काल में भी मेरी प्राथमिकता साहित्य ही रहा अर्थात् पढ़ना और लिखना। उससे जो कुछ भी मुझे स्वयं नया मिलता रहा, अपने विद्यार्थियों को भी देता रहा।

- **1978 से आप 'दस्तावेज' का संपादन कर रहे हैं। आज दस्तावेज रचना और आलोचना की विशिष्ट पत्रिका है। पत्रिका निकालने की प्रेरणा आपको कहाँ से मिली?**

◆ 'दस्तावेज' पत्रिका निकालने की प्रेरणा स्वाभाविक है। किसी भी लेखन के मन में यश की सात्विक आकांक्षा होती है। वह अपना अधिकाधिक आत्मप्रसार करना चाहता है। उसके भीतर जो प्रतिभा और ऊर्जा है उसे वह चरितार्थ करना चाहता है। 'दस्तावेज' मेरी इसी मनोभूमि की उपज है। बाद में जैसे-जैसे काम बढ़ता है, नई-नई योजनाएँ और दिशाएँ उभरने लगती हैं जो अपना आकार और स्वरूप ग्रहण कर लेती हैं। 'दस्तावेज' भी पिछले 36 वर्षों में अपना एक स्वरूप प्राप्त कर चुकी है। उसकी आरंभिक कठिनाइयों और चिंताओं का बयान अब व्यर्थ है। वह जैसी भी है, पाठकों के सामने है और पाठक ही निर्णय करेंगे कि उसने किसी भूमिका का निर्वाह किया या नहीं।

- **दस्तावेज को सरस्वती सम्मान भी मिल चुका है। पत्रिका की स्तरीयता और निरंतरता बनाए रखना एक साहित्यकार के लिए बहुत कठिन होता है, बहुत संघर्षपूर्ण होता है। आपका अनुभव कैसा रहा?**

◆ 'दस्तावेज' के दस वर्ष होने पर उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान ने उसे 'सरस्वती' सम्मान दिया जो उसी वर्ष महावीर प्रसाद द्विवेदी की पत्रिका 'सरस्वती' के नाम पर स्थापित हुआ था और पहली बार 'दस्तावेज' को ही दिया गया। इसे मैं निर्णायकों की सदाशयता ही मानूँगा। किसी पत्रिका की स्तरीयता और निरंतरता बनाये रखना सचमुच बड़ा कठिन काम है। अच्छी रचनाएँ जुटाना, समय पर प्रकाशित करना, आर्थिक व्यवस्था करना आदि काम पूरी तरह रचनात्मक नहीं होते। 'दस्तावेज' ने यह सब काम लेखकों और शुभ-चिंतकों के सहयोग से किया। अतः श्रेय उन्हें ही मिलना चाहिए। 'दस्तावेज' के लगभग तीस-चालीस विशेषांक निकले। अपने समय पर ही नहीं, अपनी साहित्यिक परंपरा पर भी उसकी दृष्टि रही और हिन्दी ही नहीं, अन्य

भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठ सामग्री भी उसने प्रस्तुत की, पर जैसा कि मैं कह चुका हूँ, इन सबके महत्व का निर्णय समय और पाठक ही करेंगे। मैं स्वयं अपनी प्रशंसा करने वाला कौन हूँ?

- **आपने गाँव से चलकर विश्व के कई देशों की यात्रा की है। जैसे-इंग्लैण्ड, मॉरीशस, रूस, नेपाल, अमरीका, नीदरलैंड, जर्मनी, फ्रांस, लक्जमबर्ग, बेल्जियम, चीन और थाईलैंड आदि। वहाँ हिन्दी की स्थिति और अपने यात्रा के अनुभवों के बारे में कुछ बताइये।**

◆ मेरी यात्राओं के संस्करण पुस्तकाकार प्रकाशित हैं- 'आत्म की धरती', 'अन्तहीन आकाश' तथा 'अमेरिका और यूरप में एक भारतीय मन'। प्रथम दो पुस्तकें दिल्ली के किताब घर प्रकाशन से तथा तीसरी ज्ञानपीठ से। एक चौथी इसी माह (मई, 2014) नेशनल बुक ट्रस्ट से प्रकाशित हुई है- 'जो दिखता है और जो दिखता नहीं।' इनमें मेरी यात्राओं के अनुभव विस्तार से अंकित हैं। जहाँ तक हिन्दी भाषा और साहित्य की बात है, अमेरिका और यूरप में वह विश्वविद्यालयों के विभागों तक सीमित है। जो भारतीय वहाँ हैं वे अवश्य ही उसका कुछ व्यवहार कर लेते हैं, पर वह भी बहुत कम। भारत का रहन-सहन, आचार-व्यवहार और चिंतन पश्चिमी देशों से बहुत भिन्न है। अब जरूर भारत की नई पीढ़ी पर पश्चिम का रंग गहरा रहा है।

- **आपने लगभग 22 पुस्तकों की रचना तथा 16 पुस्तकों का संपादन किया है। मेरी जानकारी में शोध व आलोचना के 11 ग्रंथ हैं। 7 कविता संग्रह, दो यात्रा संस्मरण, एक लेखकों का संस्मरण व एक साक्षात्कार पुस्तक प्रकाशित हो चुके हैं। सभी कृतियों की अपनी पहचान है किन्तु आप अपनी दृष्टि में सबसे महत्त्वपूर्ण किसे मानते हैं?**

◆ लेखक जिस समय लिखता है उस समय उसे वही कृति सबसे महत्त्वपूर्ण लगती है जिसे वह लिख रहा होता है। बाद में वही लेखक के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाती क्योंकि वह उसके बाद की कृति पर काम कर रहा होता है। इस तर्क से अपने-अपने समय की दृष्टि से मेरी सभी पुस्तकें महत्त्वपूर्ण भी हैं और नहीं भी हैं। दूसरी ओर पाठक अपनी रुचि और जरूरत से लेखक की कृतियों को महत्त्व देता है। कभी एक को, कभी दूसरी को। अभी दो महीने पूर्व (मार्च, 2014) मेरी डायरी छपी है- 'दिन रैन'। वाणी प्रकाशन से। अगले महीने (जून, 2014) मेरी आत्मकथा आ रही है- 'आसी और भवति'। नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली से। इस समय मेरी दृष्टि में मेरी आत्मकथा ही सबसे महत्त्वपूर्ण है। लेकिन पुस्तक को महत्त्व उसके पाठक देते हैं। उनकी राय अनुकूल हो, तब न! वैसे अपने तईं मैं अपनी आत्मकथा को कई दृष्टियों से तमाम आत्मकथाओं से अलग और विशिष्ट मानता हूँ।

- **आपका रचनाकर्म देश और भाषा की सीमा तोड़ता है। उड़िया में कविताओं के दो संकलन प्रकाशित हुए। हजारी प्रसाद द्विवेदी पर लिखी आलोचना पुस्तक का गुजराती और मराठी भाषा में अनुवाद हुआ। इसके अलावा रूसी, नेपाली, अंग्रेजी, मलयालम, पंजाबी, मराठी, बांग्ला, गुजराती, तेलुगु, कन्नड़ व उर्दू में भी आपकी रचनाओं का अनुवाद हुआ। इतनी भाषाओं में अपनी रचना का विस्तार पाकर आप कैसा महसूस करते हैं और कैसे संभव हुआ यह सब?**

◆ दूसरी भाषा या भाषाओं में अपनी किसी रचना का अनुवाद होता है तो निश्चय ही खुशी होती है, लेकिन लेखक यह नहीं समझ पाता है कि उस भाषा में उसका अनुवाद कितना समर्थ है और उस भाषा के पाठकों को कितना संप्रेषित हो रहा है। मेरी कविताओं के संकलन गुजराती, मराठी, उड़िया और तमिल में प्रकाशित हो चुके हैं। फुटकर कविताएँ तो और भी अनेक भाषाओं में अनूदित हुई हैं। लेकिन जिज्ञासा मुझमें भी है कि उन भाषाओं में मेरा अर्थ सही-सही पहुँचा है या नहीं। अनुवाद एक बहुत मुश्किल व्यापार है। भारतीय भाषाएँ तो सांस्कृतिक दृष्टि से एक हैं। अत: इनमें तो परस्पर अनुवाद सहज और प्रेषणीय होता है पर भिन्न संस्कृति की भाषाओं में अनुवाद सहज प्रेषणीय नहीं होता। उदाहरण के लिए हिन्दी कविता का अनुवाद बंगला में सहज है पर फ्रेंच और जर्मन में मुश्किल। स्वयं मेरी कविताओं का अंग्रेजी में अनुवाद मेरे पास दो वर्ष से पड़ा है। कई लोगों को उसे दिखाया पर स्वयं विश्वास नहीं होता कि भारतीय मिथकों के माध्यम से व्यक्त मेरी भावनाओं को विदेशी पाठक ठीक-ठीक ग्रहण कर सकेंगें। इसी असमंजस में उसे प्रकाशन के लिए नहीं दे रहा हूँ।

- **साहित्यिक जीवन में आपको अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा साहित्य भूषण सम्मान, भारत मित्र संगठन मास्को द्वारा पुश्किन सम्मान भी मिल चुका है और वर्ष 2011 में कविता संग्रह 'फिर भी कुछ रह जाएगा' के लिए व्यास सम्मान प्रदान किया गया। आपको कैसा महसूस होता है। कौन-सा सम्मान पाकर आपको सबसे अधिक प्रसन्नता हुई?**

◆ मैंने अपने कई व्याख्यानों में (लेखकों को पुरस्कृत करते हुए) कहा है कि कोई लेखक पुरस्कार के लिए नहीं लिखता। उसे पुरस्कार मिल जाय यह अच्छी और दीगर बात है। लेकिन यदि पुरस्कार पाने की नीयत से कोई लिखगा तो उसकी रचना अवश्य ही हीन कोटि की हो जायेगी। पुरस्कार सामाजिक स्वीकृति होते हैं। जो समाज अपने लेखकों को सम्मानित-पुरस्कृत नहीं करता उसे समाज के सभ्य और सुसंस्कृत होने में संदेह होगा। लेखक को भी पुरस्कार ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। मैं भी पुरस्कारों से प्रसन्न हूँ। मैं स्वयं अपने ही भीतर के देवता से प्रार्थना करूँगा कि मुझे अधिक से अधिक सम्मान योग्य कृतियों को रचने की प्रेरणा दें।

- **साहित्य अकादमी की स्थापना 12 मार्च 1954 में की गई। साहित्य अकादमी के प्रथम अध्यक्ष प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू और उपाध्यक्ष डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन थे। आप अकादमी के उपाध्यक्ष रहे और 12वें अध्यक्ष हैं। संभवतः आप पहले हिन्दी के साहित्यकार हैं जो अकादमी के अध्यक्ष चयनित हुए। इस महती जिम्मेदारी का निर्वहन करते हुए आप को कैसा महसूस हो रहा है और अकादमी के कार्यकलापों को लेकर आपकी क्या योजनाएँ हैं?**

◆ अकादमी का अध्यक्ष चुने जाने पर मुझे निश्चय ही बहुत प्रसन्नता हुई थी। ऐसा किसी भी लेखक को महसूस होगा। यह देश में साहित्य की सर्वोच्च संस्था है। बहुत बड़े-बड़े लोग इसके अध्यक्ष रहे हैं। मैं तो एक अदना-सा लेखक हूँ। मैं इस संस्था की गरिमा और इसके कार्यकलापों से पूरी तरह परिचित हूँ। मेरी कोशिश यही रहती है कि जो कुछ उचित हो, वही करूँ। अकादमी की योजनाएँ बहुत हैं- देशभर में कार्यक्रमों का आयोजन, गंभीर पुस्तकों का प्रकाशन, विभिन्न भाषाओं में अनुवाद तथा श्रेष्ठ लेखकों को पुरस्कृत करना आदि। ये सभी सुचारू रूप से हों, इसके लिए देश भर के लेखकों की एक कौंसिल है जो निर्णय लेती है और मुझे उन निर्णयों को लागू करना होता है। जिम्मेदारियाँ बड़ी हैं लेकिन अपना कोई निहित स्वार्थ न हो तो निर्वाहन में कोई कठिनाई नहीं होती।

- **आपने एक ओर गंभीर समीक्षात्मक पुस्तकों की रचना की है दूसरी ओर कविता भी करते रहे हैं। आपको अपनी ही रचना में सबसे पसंदीदा कौन-सी रचना है? आपका मन सबसे अधिक किसमें रमा है?**

◆ मैं उन आलमुग्ध लेखकों में नहीं हूँ जिन्हें अपना लिखा सब अच्छा लगता है। मुझसे कोई कहे तो मैं स्वयं अपने लिखे में से तीन चौथाई हटा कर एक चौथाई का चयन कर लूँगा। अर्थात् अपनी चालीस पुस्तकों में से दस। अपनी चार सौ कविताओं में से पचास। लेकिन दिक्कत तब होती है जब मैं किसी रचना को महत्त्व नहीं देता और कोई प्रबुद्ध या विशिष्ट पाठक उसे महत्त्वपूर्ण मानता है। अपनी एक कविता जिसे मैं लगभग भूल चुका था, उसे जब एक अमेरीकी प्रोफेसर ने अपने पाठ्यक्रम में रखने के लिए ई-मेल से अनुमति माँगी तो मुझे ऐसा सोचने पर मजबूर होना पड़ा कि अपनी रचनाओं का चुनाव करने का अधिकार स्वयं मुझे भी नहीं है। फिर भी आपके प्रश्न का उत्तर देने के लिए मुझे बताना चाहिए कि रचनात्मक लेखन में ही मेरा मन रमता है, आलोचनात्मक में नहीं। अपनी आत्मकथा लिखने में मेरा मन सबसे अधिक रमा है और आशा करता हूँ कि पाठकों का भी मन उसमें रमेगा।

- **11. आजकल साहित्य में नारी विमर्श और दलित विमर्श का दौर चला है। इन दोनों विमर्शों को आप किस रूप में देखते हैं?**

◆ नारी विमर्श और दलित विमर्श के बारे में मैं अलग-अलग लेखों में स्पष्ट रूप से अपने विचार व्यक्त कर चुका हूँ। दोनों ही विमर्श आवश्यक और अपने समय की माँग है। दोनों ही परिस्थितियों के गर्भ से फूटे हैं। दोनों के अपने गंभीर तर्क हैं जिन्हें नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। दोनों के द्वारा वास्तविकता के नये पहलू, नये यथार्थ उजागर हुए हैं। इनका स्वागत होना चाहिए। इस संदर्भ में मेरा कहना इतना ही है कि भारत की समाज और परिवार व्यवस्था इतनी जटिल है कि उसको ध्यान में रखते हुए नारी और दलित विमर्श को आगे बढ़ाना चाहिए। किसी के विरुद्ध लड़ना पर्याप्त नहीं होता, किसी के लिए भी लड़ना उपयुक्त होता है।

- **दिल्ली साहित्यिक राजधानी के रूप में भी अवतरित हो गई है। साहित्य में आजकल खेमेबाजी बहुत हो गयी है। आप उसे किस रूप में देखते हैं? इन खेमों से साहित्य का भला हो सकता है?**

◆ दिल्ली जरूर ही साहित्य की राजधानी बन गई है लेकिन वहाँ दिल्ली के लेखक तो इक्का-दुक्का हैं। अधिकांश लेखक तो विभिन्न प्रान्तों और जनपदों से ही गए हैं। मेरा अनुभव है कि रचना के लिए दिल्ली कोई उर्वर प्रदेश नहीं है। मैं स्वयं दिल्ली में नहीं रहता। बस केवल काम भर के लिए, महीने में चार पाँच दिन। बाकी अपने छोटे से शहर के छोटे से कमरे में। जहाँ तक साहित्य में खेमेबाजी की बात है, आपका कहना सही है। लेकिन ये खेमेबाजी सदा से रही है। हाँ, प्रगतिवाद के जमाने से कुछ ज्यादा प्रचलित और पुख्ता हुई है। लेकिन इसकी चिंता नहीं करनी चाहिए। अपना काम करते चले जाना हमेशा अच्छा रहता है। मेरा ऐसा मानना है कि कार्य से बड़ा मनुष्य का दूसरा कोई साथी नहीं है क्योंकि कर्म कभी निष्फल नहीं होता। खेमे बनाने वाले लोग खेमे बनाने में ही चुक जाते हैं।

- **आप साहित्य में एक लम्बी यात्रा तय कर चुके हैं और आज भी अत्यधिक सक्रिय हैं। अपने भविष्य की योजनाओं के संबंध में हमें कुछ बताइये।**

◆ इस समय मैं अपनी लेखक-योजनाओं का एक चक्र पूरा कर रहा हूँ। आत्मकथा का प्रकाशन उसी की एक सूचना है। इसके बाद लेखन का एक नया दौर शुरू हो सकता है। लेकिन अभी उसकी योजना छः महीने बाद ही बनाऊँगा। अभी तो इस दौर का उपसंहार पूरा होने दीजिए।

- **आज ऐसा महसूस किया जा रहा है कि हिन्दी पत्रकारिता साहित्य से क्रमशः दूर होती जा रही है। आज की हिन्दी पत्रिकारिता के संबंध में आपका क्या दृष्टिकोण है?**

◆ यह बहुत कम लोग जानते हैं कि मेरा जीवन पत्रकारिता से ही शुरू हुआ था और मैंने अपनी प्रथम नौकरी या ट्रेनिंग दैनिक अखबार से शुरू की थी। केवल कुछ ही महीनों के लिए। पत्रकारिता और साहित्य का बहुत घनिष्ठ संबंध रहा है। बड़े-बड़े साहित्यकार समाचार पत्रों से जुड़े रहे हैं। लेकिन अब पत्रकारिता के सरोकार बदल गए हैं। व्यावसायिकता और पैसा कमाने की होड़ पत्रकारिता का मुख्य मार्ग बन चुक है। इस भूमंडलीकरण की भोगवादी व्यवस्था में यही होगा, जो हो रहा है।

- **आपके व्यक्तिगत जीवन की कुछ ऐसी कुछ यादगार घटनाओं का उल्लेख करें जो पाठकों को प्रेरणा प्रदान कर सके।**

◆ यदि प्रेमचंदजी के शब्द उधार लूँ तो कह सकता हूँ कि मेरा जीवन एक सपाट मैदान रहा है। बहुत ऊँचे-नीचे शिखर-घाटी उसमें नहीं हैं। मेरे जीवन में कोई चमत्कार नहीं हुआ, जितना किया उतना ही पाया। यदि इसी को उलट कर सोचूँ कि फिर वही-वही क्यों किया तो सारा जीवन ही एक चमत्कार प्रतीत होगा। जिस तरह सोचूँगा, उसी तरह के निष्कर्षों पर पहुँचूँगा। लेकिन आप को किसी रहस्य या संयोग या नियति की दिशा में नहीं ले जाना चाहता। बस यही समझिए कि कारण-कार्य शृंखला में जैसा कारण वैसा कार्य रहा। वैसे तो हर घटना याद करने लायक है पर इसका बयान बहुत लम्बा होगा। हो सकता है अनाकर्षक भी हो।

❑❑❑

डायरी में समय की गूंज

ज्ञानप्रकाश विवेक

'दिन रैन' डायरी को पढ़ते हुए ऐसा भी महसूस होता है, जब शाम का सूरज सीढ़ियाँ उतर रहा होता है, ऐन ... उस वक्त, कोई विचार सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ डायरी तक चला आता है। बेशक, डायरी में ढलते सूरजों की विदाई नहीं, दिनभर के हंगामाखेज रोजनामचे के बीच, एक कवि का, एक पृष्ठ पर, समय को तहरीर करना भी है। इन तहरीरों में निजता किसी अनिवार्य हस्तक्षेप की तरह है।

यह डायरी 'दिन रैन' गैरमामूली डायरी है। यह एक अतिपिछड़े, अशिक्षित देहात में जन्में और गोरखपुर शहर में मुकीम हुए, ऐसे अदीब की तख्लीक है, जो सादगी के रास्तों से होते हुए, साहित्य अकादमी जैसी सर्वोच्च साहित्यिक संस्था का अध्यक्ष बनता है।

लेकिन यह सोचना कि डायरी एक कवि, आलोचक और कथाकार विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के साहित्य अकादमी में अध्यक्ष बनने तक का सफरनामा है, तो यह सोचना सरासर गलत होगा। डायरी लिखने की शुरूआत 1968-1969 से होती है और उस वक्त, डायरी लिखते हुए डॉ० तिवारी ने सोचा ही नहीं होगा कि वे अकादमी के अध्यक्ष पर तक पहँचेंगे। वे इस बात का जिक्र भी इस बीच कई बार करते हैं कि वे लगभग अपरिचित-से कवि हैं। दरहकीकत, साहित्यिक जगत से अपरिचित वे समय से, समाज से, हिन्दी अदब से और अपने आप से हमकलाम होते हैं।

डायरी में एक कवि, एक आलोचक और एक चिंतक के सरोकारों, विचारों, द्वंद्व और मन की भावनाओं की अभिव्यक्ति है। यहां चिंतन की भी दो अवस्थाएँ हैं- समाज चिंतन और आत्म चिंतन। और समय! .... समय को घड़ी की सुइयों से बाहर निकालकर, डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी उससे रू-बरू होते हैं। तब, ऐसा लगता है। दो मुसाफिर हैं। एक ही यात्रा के दो मुसाफिर। एक, डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, दूसरा-समय। शायद इसलिए, इस डायरी में समय की गूंज सबसे ज्यादा है।

यह डायरी गैरमामूली इसलिए भी है कि यहाँ तमाम तरह की पेचीदा और सख्त महसूस होनेवाली बातों को भी विनम्रता से व्यक्त किया गया है। यहाँ न

बौद्धिक लफ्फाजियाँ है न किसी के चरित्रहनन की कोशिश। यहाँ तो शगूफेबाजी भी नहीं जो सनसनी फैलाकर रातोंरात चर्चा में ला खड़ा करती। यह उस रचनाकार की डायरी है जो 1968 से इसे लिखना शुरू करते हैं। उस दौर में, डायरी लिखते वक्त डॉ० तिवारी ने कभी सोचा ही नहीं होगा कि यह डायरी कभी किताब की शक्ल भी अख्तियार करेगी। और यही वजह है कि डायरी में सहजता और सरलता है, सादगी है और सलाहियत है। यह डायरी एक तरफ से ऐसा समय-संवाद है जो कमोबेश 2013 तक जारी रहता।

बहरहाल, 'दिन रैन' नाम से प्रकाशित इस डायरी का एहतराम इसलिए भी जरूरी है कि इसमें पैंतीस-चालीस वर्षों का वक्त अपनी चहलकदमी के साथ मौजूद है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी अपनी डायरी में बहुत सारी आवाजों को भी जगह देते हैं। लेकिन बड़ी सलाहियत से उन आवाजों को अल्फाज की खामोशी में छुपा लेते हैं। इस पर्दादारी में जहाँ बहुत सारी चीजें मानीखेज हो गई हैं, वहाँ डायरी का रूतबा भी बढ़ गया है।

'दिन रैन' डायरी को पढ़ते हुए ऐसा भी महसूस होता है, जब शाम का सूरज सीढ़ियां उतर रहा होता है, ऐन ... उस वक्त, कोई विचार सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ डायरी तक चला आता है। बेशक, डायरी में ढलते सूरजों की विदाई नहीं, दिनभर के हंगामाखेज रोजनामचे के बीच, एक कवि का, एक पृष्ठ पर, समय को तहरीर करना भी है। इन तहरीरों में निजता किसी अनिवार्य हस्तक्षेप की तरह है।

ऐसा भी लगता है कि होटलों के कमरों में, यात्राओं में या बड़े शहरों में विश्वनाथ प्रसाद किसी कशमकश में भी रहते हैं। यहाँ पद का वैभव स्वीकार है तो व्यर्थता का बोध भी, जो खला पैदा करता है और खलिश भी।

पाँच तारा होटलों की चकाचौंध और प्रशंसाओं के नख्लिस्तान से बेपरवाह एक सादालौह अदीब न खुशफहम होता है न मुग्ध! यही निरपेक्षता का भाव अन्य रचनाकारों के साथ भी है। तिवारीजी पूरी डायरी में न किसी को गिराते हैं न अपने लिए कोई शिखर तलाश करते हैं। बेशक, संकेतों में वे बहुत कुछ व्यक्त भी करते हैं। साहित्य में, वे किसी के साथ साँप-सीढ़ी का खेल नहीं खेलते। जबकि उनके साथ यह खेल खेला जाता रहा (साहित्य अकादमी के अध्यक्ष पद के चुनाव के समय)।

डायरी के बिलकुल आखिर में जब वे लिखते हैं- जिंदगी का मकसद कर्म है और फल स्वयं कर्म तक आता है तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे यही एक वाक्य पूरी डायरी का सूत्र हो। यह एक पंक्ति डायरी लेखक के मन की न सिर्फ कैफियत को बयान करती है, बल्कि डायरी का मकसद भी साफ करती है।

डायरी बेशक किसी गुजिश्ता को बयान करने की एक ऐसी विधा है जो हिन्दी साहित्य में अभी तक कोई पहचान नहीं बना पाई। इसलिए डायरी लिखनेवाले लेखक बहुत कम हुए। डायरी उपन्यास, कहानी, संस्मरण से बिलकुल भिन्न विधा है जिसमें रचनाकार सालों-साल डायरी लिखते हुए न केवल निजी संसार को रचता है, बल्कि रोजाना सामने खड़े वक्त का संज्ञान भी लेता है। डायरी एक तरह से वैचारिक पुख्तगी और असीम धैर्य

का इम्तेहान भी होती है। चूँकि अधिकांश अदीब डायरी लेखन कहीं बीच में छोड़ देते हैं। हिन्दी साहित्य में संभवत: ऐसा ही हुआ है। इसलिए डायरी केंद्रित बहुत कम किताबें आई हैं। शायद यही वजह है कि बहुत तप, ताप, परिश्रम और एकाग्र लेखन के बावजूद डायरी लेखन को हिन्दी में बतौर सिन्फ (विधा) मकबूलियत नहीं मिली।

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की डायरी की किताब 'दिन रैन' में करीब चालीस वर्षों का समय अपनी थरथराहट, व्याकुलता और बदलाव के अनेक संकेत देता है। इसमें डॉ० तिवारी की मिलनसारिता है, सादगी का जश्न है। बड़ी बात यह है कि अपनी पसंद-नापसंद को उन्होंने डायरी में हावी नहीं होने दिया।

डायरी में बेहद लम्बे कालखण्ड का ठिकाना है और इसे पढ़ते हुए यूँ महसूस होता है जैसे कि किस्सागो ने 1968 से 2013 तक का अहवाल, साँस लेते अल्फाज में दर्ज किया हो।

डायरी का अन्त 'कर्म' जैसे भारतीय दर्शन की अभिव्यक्ति से है तो डायरी का आरंभ भी एक गम्भीर चिंतक की टिप्पणी से होता है- 'कर्मकाण्ड का होना, धर्म की पराजय'।

25 मई, 1969 को डायरी पृष्ठ डायरी लेखक की गहरी संवदेना और सरोकार का पता देता है। स्मृति आख्यान में शायद इसी तरह रचे जाते हैं। आज वह अनजान और अतिसाध्य मनुष्य पाठकों को याद आने लगता है तो इसलिए कि डायरी में उसके दुख को तहरीर करके स्मृतियों में जिंदा कर दिया। पता नहीं, अब वह शख्स होगा या नहीं, लेकिन डायरी में उस शख्स की संघर्ष गाथा जिंदा है। घटना यूँ है- गोरखपुर में एक शख्स विश्वनाथ प्रसाद तिवारी से जयपुर का रास्ता पूछता तो तिवारी उसे रेलगाड़ियों के बारे में बताते हैं। लेकिन वो कहता है कि उसके पास पैसे नहीं हैं और पैदल ही जयपुर तक जाना है। वह अपनी पत्नी और बच्चे के साथ खड़ा है। वह नेपाल से आया है जहाँ ठेकेदार ने उसकी मजदूरी नहीं दी। वह जयपुर तक जाएगा। दीनता, जो दरिद्रता से पैदा हुई है, उसके चेहरे पर है और जो कष्ट से उपजी तड़प है वह किसी अनाम रास्ते से यात्रा करती हुई डायरी लेखक तक चली आई है। पूरी घटना किसी रूपक की तरह है जो भारत के अनेक-अनेक गरीब लोगों की छायाओं को समेटे हुए है।

अमूमन, डायरी में जिंदगी के जश्न और सफल-असफल प्रेम कथाओं के चर्चे होते हैं। यहाँ उस बेहद मुफलिस शख्स का जिक्र है जो जयपुर तक पैदल जाने का विचार बना चुका है।

20 जून, 1969 रेल की भीषण दुर्घटना। सैकड़ों लोग घायल। कइयों की मौत। लेकिन विश्वनाथ तिवारी बच गए। 20 जून का दिन उनका जन्मदिन भी था। मौत उनके जन्म दिन के सिरहाने खड़ी रही। वह दबेपाँव आई। लेकिन बेआवाज वापस लौट गई। लेकिन मृत्युबोध छोड़ गई। यहाँ शब्द के पशे-मंजर मौत का भय दिखाई देता है और वे इसे छुपाते नहीं। बल्कि 1969 से 1975 के बीच, जीवन-मृत्यु जैसे द्वंद्व अभिव्यक्त हैं।

मृत्यु के बोध से टकराते हुए एक बड़ा अदीब खौफ पैदा ही नहीं करता, जीवन-राग को भी जन्म देता है और वह यहाँ है।

मौलिकता की बहस को भी वे डायरी में दर्ज करते हैं और ऐसी जगहों पर वे कुछ सूत्र वाक्यों से अपनी बात को अर्थवान बनाते हैं- ऑल ओरिजनलिटी इन एन अनडेक्टेड थेफ्ट (मौलिकता एक अनपहचाना अनुकरण है) फिर खुद कहते हैं- हम जिसे नया कहते हैं, वह पहले से विद्यमान है।

डायरी में राष्ट्रीय ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय घटना पर भी तबसरा है। बंगला देश का निर्माण, इमरजेंसी, ऑपरेशन ब्लू स्टार, ध्यानचंद चौक पर प्रतिवाद को क्रूरता से कुचलने की तानाशाही पर भी वे बेबाक और बेलौस ढंग से अपने विचार व्यक्त करते हैं।

बहुत सारी गोष्ठियों का भी जिक्र है जो महज 'रपट-टाइप' नहीं। बल्कि छोटी-छोटी बातों से, विचार से वे गोष्ठियों पर तबसरा करते हैं। जश्ने फिराक पर वे बड़े सलीके से अदबी हलचल को तहरीर करते हैं तो फिराक गोरखपुरी के व्याख्यान की एक पंक्ति देकर फिराक की अजमत को और बुलंद कर देते हैं- 'हम दुनियाभर की चीजों को देखते हैं। मगर यह नहीं देखते कि एक पत्ती अपना सिर कैसे उठाती है।' इसी एक पंक्ति से अंदाजा लगाया जा सकता है कि फिराक कुदरत को किस अनुभव की आँख से देखते थे। इसी तरह संवेदना से भरपूर अनुभव तब भी होता है जब वे कवि शमशेर बहादुर सिंह से मिलते हैं- वे मधुर स्वभाव और सरल हृदय हैं। उन्होंने चाय के साथ केला खिलाया। वे साधारण-सा पैंट और कमीज पहने थे। पैंट एकाध जगह फटा भी था। (3 अप्रैल 1972)

यह उस दौर का जिक्र है जब डायरी लेखक की कोई खास पहचान नहीं थी। लेकिन शमशेर बहादुर तब भी विशिष्ट और हिन्दी जगत में ख्यात कवि थे। लेकिन वे नए कवि का खैरमकदम कितने जज्बे के साथ करते हैं। बिल्कुल यह बात भी गौरतलब है कि उन्हें अपनी पोशाक की ज्यादा चिंता नहीं। पैंट फटी हुई है तो कोई बात नहीं। यही ..... मामूलीपन उन्हें असाधारण कवि बनाता है।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी डायरी के एक पन्ने पर लिखते हैं- 'एक लेखक की कुल जमा पूंजी उसकी स्मृति होती है।' डायरी का वतर्मान यहाँ स्मृतियों के रूप में मौजूद है। यह एक एक तख्लीफ है, जिसमें 35 या चालीस साल का समय अपनी हलचल के साथ मौजूद है। किताबों की चर्चा बेशक कम है। लेकिन कुछ बेहद महत्वपूर्ण किताबें- चेग्वेवारा की डायरी 'बोलीवियान डायरी' और सोल्जेनित्सन की किताब- 'गुलाम द्वीप समूह' पर बेशकीमती तहरीरें हैं। स्टालिन युके हौलनाक वाकयात और एक तानाशाह-स्टालिन का अत्याचारी रवैया। खौफ यहाँ किसी ठोस रूप में दिखाई देते है। यहाँ फिर एक घटना का जिक्र है जो तानाशाह के भय को रूपक में बदल देता है- स्टालिन की प्रशंसा में तालियाँ बज रही हैं- निरंतर। कोई नहीं रुकता, रुकने की पहल कौन करे? जो शख्स तेरह मिनट बाद ताली बजाना बंद करता है। उसे दस साल कठोर कारावास की सजा होती है।

एक साहित्यिक घटना। बहुत सारी अन्य साहित्यिक घटनाओं और अदबी नशिस्तों के अतिरिक्त। 2 अक्टूबर 1978 को दस्तावेज पत्रिका का प्रवेशांक। जरा गौर करें 1978 का वक्त। गोरखपुर जैसी जगह से दस्तावेज का प्रकाशन जो अब तक जारी है।

'दिन रैन' डायरी पढ़ते हुए कई बार ऐसा भी लगता है जैसे विश्वनाथ प्रसाद तिवारी डायरी न लिख रहे हों, जीवन के अर्थ तलाश रहे हों। मृत्यु का भय और अमरत्व की आकांक्षा का कशमकश भी जीवन के अर्थ तलाश करनेवाले बेचैन चिंतक के मन में मौजूद रहती है। यह मृत्युबोध और जीवन के अर्थ या जीवन की लय की तलाश – मौत की बीहड़ शाना-ब-शाना खड़ा दिखाई देता है और इसलिए 23 फरवरी, 1983 का डायरी का पन्ना को-रिलेट करता प्रतीत होता है। इस दिन विश्वनाथ प्रसाद पचहत्तर दिन अस्पताल में दाखिल रहने के बाद घर लौटे हैं। फीमर (कूलहे के नीचे की) हड्डी टूट गई। यह वक्त बेहद दुश्वारियों भरा रहा। लेकिन वे इसकी तफसील में नहीं जाते। दुख की छायाएँ डायरी में बेशक हैं लेकिन छायाएँ अंधेरे में नहीं बदलतीं। यह डायरी इस लिहाज से एक रौशन ख्याल अदीब की ऐसी रचना है जिसमें सुख-दुख के अपने-अपने ठिकाने हैं। लेकिन विचलन कहीं नहीं।

साहित्य अकादमी की अध्यक्षता से पूर्व भी विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का अनेक शहरों में आना-जाना लगा रहा। कहीं गोष्ठियों की सदारत तो कहीं व्याख्यान! चुनांचे, जिस-जिस शहर में वे गए, उन शहरों का 'शहरनामा' डायरी में स्वत:स्फूर्त चला आया है- दिल्ली, उज्जैन, धर्मशाला, कुरुक्षेत्र, हैदराबाद, जोकनपुर, शिमला, भुवनेश्वर, कोलकत्ता, शान्ति निकेतन, भोपाल आदि शहरों पर संक्षिप्त लेकिन जज्बाती अभिव्यक्तियाँ हैं। बीच-बीच में विनम्र कवि का चिंतक रूप तुर्श लहजा भी अख्तियार करता है तो पता चलता है कि समाज के प्रति उनकी गहरी आस्था है। 20-02-1989 की ये पंक्तियाँ – ''सभी बंद व्यवस्थाएँ एक दिन टूटेंगी। मनुष्य एक बंधन द्रोही प्राणी है। वह जंजीरों के विरुद्ध संघर्ष करता है।''

1990 से 2001 तक का समय डायरी में नहीं है। इस दौर की डायरियाँ गुम हो जाती हैं। लेकिन किताब 'दिन रैन' में इस वक्त 1990-2001 का न होना जैसे एक दशक को एक मातबर अदीब गुम कर आया हो। गौर से देखें तो हर बड़े रचनाकार की यही खलिश है कि वह अपने समय को कहीं खो आया है। शहरयार इसे यूं व्यक्त करते हैं- 'के खेल खत्म हुआ कश्तियाँ डुबोने का'।

अल्फाज के बर्ताव पर वे बड़ी शानदार बात कहते हैं- 'कवि जब शब्द का प्रयोग करता है तो उसमें उसके अपने अनुभवों का सहचर्य लोक भी होता है। यानी एक मामूली लफ्ज जब अदब का हिस्सा बनता है तो गैर मामूली हो जाता है। लेकिन एक अन्य स्थान पर वे शब्द और लिपि के रिश्ते पर उलझी हुई बात कहते हैं- लिपि के आने से शब्द का मान कम हुआ (5 अगस्त 2010)।

लेखक संगठनों की भूमिका उन्हें चिंतित करती है। जुलाई 2007 को वे अपनी डायरी में लिखते हैं- 'पिछले कुछ दशको से, लेखक संगठनों के कारण साहित्यिक माहौल धूमिल हुआ है तथा कुछ लेखक अन्य कारणों से चर्चित हो गए।' इसी के साथ डॉ० रघुवंश पर लिखी गई कुछ सतरों का एहतराम होना चाहिए। 'डॉ० रघुवंश दोनों हाथों से विकलांग। पानी का गिलास तक दाँत से उठाते हैं। उन्होंने कहा- 'मेरी कर्म में आस्था न होती तो मैं कटोरा लेकर, किसी रेलवे स्टेशन पर भीख माँग रहा होता।'

डायरी में इसी तरह की बातें हैं- सादगी किसी वैभव की तरह और विनम्रता किसी शैली की तरह।

लेकिन बीच-बीच में एक चिंतक की अनुभवी टिप्पणियाँ मसलन- 'अन्न, जल, धूप के बिना कुछ दिन गुजारे जा सकते हैं, लेकिन जिन्दगी से विश्वास उठ जाए तो मनुष्य एक क्षण जिंदा नहीं रह सकता।' यहीं वे यह भी कहते हैं 'रचनाकार रचना के क्षण में तथा बाद के वक्त में, दो अलग मनुष्यों में कैसे तकसीम हो सकता है?' डायरी में वे इस तरह के सवालों से जूझते हैं- 'हर बेहतर लेखक बनने में प्रायः एक बेहतर आदमी बनने से चूक जाते हैं।

डायरी में बेहद सादगी से व्यक्त विचार गहरा अर्थ रखते हैं।

लेकिन डायरी में बहुत सारे प्रशंसकों की प्रशंसा कोई अर्थ नहीं रखती। सवाल पैदा करती है कि अचानक इतने सारे उनकी कविता के प्रशंसक कैसे पैदा हो गए? खुद डॉ० तिवारी के मन में भी ऐसे सवाल उठते हैं। लेकिन प्रशंसा उन्हें अच्छी लगती है। निजी डायरी तक ये प्रशंसाएँ रहती तो बेहतर होता। किताब छपने के दौरान उन्हें हटा दिया जाता तो डायरी का रूतबा बरकरार रहता।

डायरी में शहरों और यात्राओं का वृत्तांत एक कवि दृष्टि का अहसास कराता है। लेकिन कनाडा, बैंकाक, सिओल - विदेश यात्राओं पर कोई तबसरा नहीं। यह बात हैरान करती है। इसके विपरीत शिकोहाबाद जैसे जंक्शन के प्लेटफार्म पर विलम्ब से चल रही रेलगाड़ी का इंतजार किसी व्याकुल कथा की तरह है। जैसे समय ठहर गया हो और एक रचनाकार गतिशील हो। बीच में है अथक-सी मुठभेड़ अपने मन की अवस्था से!

डायरी लेखक का सुंदीर्घ कालखण्ड है 1968 से 2013 के बीच। दस वर्षों का डायरी लेखन इसमें नहीं आ पाया। इसके बावजूद इसमें विभिन्न शेड्स, मूड्स और मन की अवस्था हैं। यहाँ हम निरंतर बदलते समय को, समाज को और साहित्यिक को देख-परख सकते हैं। जश्ने फिराक से लेकर अनेक कविता गोष्ठियों और अदबी बहसों को इस डायरी में माकूल जगह दी गई है। लेकिन जब-जब स्वयं विश्वनाथ प्रसाद अपनी या अपनी 'अना' से टकराते हैं तो कहीं ज्यादा प्रश्नाकुल और चिंतक प्रतीत होते हैं- जिंदगी हिसाब मांग रही है, क्या जवाब दूँ? कोई भीतर बैठा है जो जैसा चाहता है, वैसा करवाता है। आखिर यह कौन है जो भीतर बैठा है- कोई यज्ञ या कोई हमजाद?

डायरी 'बेहद' तक जाने का प्रयास प्रतीत होती है। जिन्दगी के उस पार देखने की कोशिशें एक कवि के रूप में और एक दाशर्निक के रूप में भी महसूस होती हैं।

1964 में फतेहपुरी के एक मामूली होटल के मामूली कमरे में दिल्ली के तिलिस्म को महसूस करता हुआ एक नौजवान, गोरखपुर का कवि - विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - अपरिचित अनजान और कवि के रूप में जिसकी कोई खास शिनाख्त भी नहीं। वही कवि! इंडिया इंटरनेशनल का भव्य कमरा। केन्द्रीय साहित्य अकादमी की अध्यक्षता का ऐलान! और कमरे में फूट-फूट कर रोते हुए विश्वनाथ प्रसाद तिवारी! जैसे कि यह रोना विरेचन हो या फिर यह रोना किसी अदृश्य शक्ति का आभार व्यक्त करना हो। मानो रोते हुए वे कह रहे हों - तू है मुहीते-बेकरां, मैं जरा-सी आबे जू-(इकबाल) (तू अथाह समन्दर है और मैं जल की एक बूंद)। दरहकीकत ये आँसू किसी बंदगी की तरह हैं। शिखर तक पहुँचने का न दम्भ न अभिमान! वही विनम्रभाव व्यास सम्मान के दौरान (10 मार्च 2011)। वही अहसास और वही संवेदन लय जब वे साहित्य अकादमी की अध्यक्षता जैसा बेहद महत्त्वपूर्ण पद स्वीकार करते हैं। हिन्दी भाषा में ऐसा पहली बार हुआ कि जिसे अध्यक्षता का पद मिला वह डॉ० विश्वनाथ तिवारी ही थे। इस रूतबे का खैरमकदम!

पूरी डायरी एक मुकम्मल रचना की तरह है। यानी एक ऐसी तख्लीक जिसमें कई सारे समय ज़िन्दगी का लय पैदा करते हैं। सबसे बड़ी बात यह कि जो सादगी का वैभव विश्वनाथ प्रसाद तिवारी में है, किसी जीवन शिल्प की तरह, वही सादगी का वैभव पूरी की पूरी डायरी में है।

पुस्तक	:	दिन रैन (डायरी)
लेखक	:	विश्वनाथ प्रसाद तिवारी
प्रकाशक	:	वाणी प्रकाशन 21-ए, दरियागंज नई दिल्ली-110002
मूल्य	:	395/-
प्रथम संस्करण	:	2014

❑❑❑

1875 सेक्टर-6, बहादुर गढ़-124507, हरियाणा, 09813491654

मानवीय गरिमा की संवेदनशील चिन्ता

कुन्दन माली

इतिहास के अँधेरों में व्यक्ति-अस्मिता को रेखांकित करने वाली मानव की जय-यात्रा निरंतर जारी रहती है क्योंकि मनुष्य स्त्रष्टा है, निर्माता है, वह सत्य का पर्याय है, वह विवेकवान है और विराट भी। उसे आज तक कितनी ही यातनाएँ मिलीं, कितने ही महाभारत लड़े गए हैं उसके भीतर और कितने ही विश्वयुद्ध। उसके मस्तक पर कितने ही एटम बम फोड़े गए, उसके पैरों तले कितने ही खण्ड प्रलय गुजर गए हैं।

"यह जो अपने दुखों की कहानी/सुनाने आया है/नहीं जानता अपने दुख/हिमवंतों के चकाचौंध / और समुद्रों के अन्धकार में/डैने फड़फड़ाता/महाकाश के कुहासे में/मारता मारता/सदियों के पार/बढ़ता रहा है यह/लगातार/इसे याद नहीं/कब यह जिबह किया गया मेमने की तरह/कब कब चीरा गया-आरे से लट्ठे की तरह/इसे याद नहीं। कब-कब इसके खून से लाल हुए/शहर और खलिहान/महा-महासमरों में/कब-कब बेचा इसने/अपना ईमान/तलवार की धार पर/रक्त की बूंद है यह/अजेय किलों की नींव का पत्थर है यह/सारे गुणा-भाग जोड़-घटाने के बाद/बच गया साहस का अंक है यह/महाकाल के रथ से रौंदा हुआ/प्रसाद है यह/करोड़ों हिमपातों/अरबों भूकम्पों/उल्कापातों आघातों के बाद भी बच गया है-यह आदमी/अपनी इन्द्रियों के साथ सही सलामत।" (बचा हुआ आदमी, आखर अनन्त, पृ०-58-59)।

इस कविता को विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की कविता की केन्द्रीय थीम वाली कविता के तौर पर देखा जा सकता है। मनुष्य की गरिमा, अस्मिता और जिजीविषा को बनाए रखकर, उसके जीवन संघर्ष को निरूपित करना ही कवि की मुख्य चिन्ता है और उसका मूल रचनात्मक सरोकार भी। मनुष्य की अस्मिता के संघर्ष की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। इतिहास की शक्तियाँ, राजनैतिक तंत्र और व्यवस्था तथा समकालीन परिवेश अलग-अलग या एक साथ मिलकर मनुष्य की अस्मिता का दमन, हरण करते आए हैं। व्यवस्था और तंत्र कैसा भी हो, व्यक्ति की अस्मिता को वह

कभी भी पसन्द नहीं करता। अपनी कविता में कवि हमारी अस्मिता के लिए चुनौती बनने वाली ताकतों के खिलाफ खड़ा नजर आता है।

मनुष्य की गरिमा को खंडित करने वाली, उसकी अस्मिता के लिए खतरा बनने वाली और उसकी जिजीविषा को अवरुद्ध करने वाली प्रवृत्तियों की खोज में कवि ठेठ इतिहास तक जाता है, क्योंकि आज की राजनैतिक व्यवस्था की कारगुजारियाँ ही समय व्यतीत होने पर इतिहास का जामा पहन लेती है। इसी क्रम में कवि कहता है- "जो गढ़ते हैं परिभाषाएँ/मत पढ़ें मेरी कविताएँ/गणित के फार्मूलों को लाँघ चुके हैं शब्द/इन शब्दों का अर्थ/दो दो चार नहीं होता/भोगी हुई जिन्दगी से लिखी हुई जिन्दगी तक/मैंने जो की हैं यात्राएँ/उन्हें आप कह सकते हैं मेरी कविताएँ/मगर मेरे लिए कविता जिन्दगी ही है/भाषा सलीब पर लटकी हुई जिन्दगी/और मैं दोनों को साथ-साथ ढो रहा हूँ।" (कविता और जिन्दगी, चीजों को देख कर, पृ०-10)। कवि का दृढ़ विश्वास है कि संघर्ष-यात्रा में हार-जीत का उतना महत्त्व नहीं जितना कि मनुष्य के संघर्षरत रहने का है- 'शायद संघर्ष ही मुझे प्रमाणित करे'। लिहाजा कवित प्रार्थना करता है कि- "मैं मोक्ष नहीं चाहता/काल देवता/मुझे जीने दो/मैं जीना चाहता हूँ/इस भयानक अँधेरे में भी जीना चाहता हूँ। आखिरी यातना तक।" (जिजीविषा, वही पृ०-15)।

कवि जानता है कि 'रास्ता पहाड़ी है/थोड़ा सम्भल कर चलना पड़ेगा। मगर इस घाटी में सभी रास्ते खतरनाक हैं। और रास्ता जिनता ही खतरनाक होगा। जोखिम भी उतना ही उठाना पड़ेगा।' हाँ पथ-विचलन का कोई सवाल ही नहीं। क्योंकि-"पथ एक संभावना है/पता नहीं कहाँ ले जाए/जाने को वह/किसी अंधी घाटी में भी जा सकता है/मगर जब पथ है/तो किसी और को भी-ले गया होगा।" (पथ एक संभावना, चीजों को देख कर, पृ०-35)।

इतिहास के अँधेरों में व्यक्ति-अस्मिता को रेखांकित करने वाली मानव की जय-यात्रा निरंतर जारी रहती है क्योंकि मनुष्य स्रष्टा है, निर्माता है, वह सत्य का पर्याय है, वह विवेकवान है और विराट भी। उसे आज तक कितनी ही यातनाएँ मिलीं, कितने ही महाभारत लड़े गए हैं उसके भीतर और कितने ही विश्वयुद्ध। उसके मस्तक पर कितने ही एटम बम फोड़े गए, उसके पैरों तले कितने ही खण्ड प्रलय गुजर गए हैं। इतिहास के कितने ही प्रचण्ड तूफान उसकी छाती को रौंद कर निकल गए हैं, लेकिन वह अब भी फौलाद की तरह खड़ा है। घने अंधकार को चीरते, अवरोधों को रौंदते, शून्य को तीर-सा बेधते हुए, जंगलों, नदियों, घाटियों को लाँघते, पहाड़ों की छाती को चीरते हुए मानव लगातार बढ़ता ही जा रहा है क्योंकि मानव की इस जय-यात्रा को रोकना समय के बस में नहीं है। इस क्रम में कवि महज इतना ही चाहता है- "क्या कहूँ/कुछ अनकहा भी रहने दो/दर्द की दास्ताँ भी क्या होगी/चुपचाप सहने दो/अभी तो सामने बिछा है चट्टान-सा

समय/संभल कर चढ़ने दो/वक्त नहीं हैं, न रोको/मेरे साथियों को लड़ने दो/सुबह हो न हो/कोई बात नहीं/उन्हें आहिस्ते-आहिस्ते/इतिहास के अँधेरे में बढ़ने दो।" (इतिहास के अँधेरे में, चीजों को देखकर, पृ०-104)।

मनुष्य को नष्ट करने में जब कभी इतिहास चूक जाता है, ठीक उसी वक्त राजनीतिक व्यवस्था अपना मोर्चा सँभाल लेती है। मनुष्य के लिए राजनीति द्वारा प्रस्तुत चुनौतियाँ बहुस्तरीय और जटिल हैं। समय के साथ-साथ इनका स्वरूप बदल सकता है लेकिन मूल मंतव्य वही रहता है, अर्थात् मनुष्य की अस्मिता को खत्म कर देना। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की कविताएँ उस आदमी के साथ चलती हैं जो अपनी भयानक परिस्थितियों के बीच जी रहा है और मर रहा है। बांगला देश या वियतनाम तो बहाना मात्र है। आदमी हर जगह एक यातना से गुजर रहा है। कवि आदमी की इसी पीड़ा को भाषा देने की कोशिश करता है। इनमें संघर्षशील चेतना है और मानवद्रोही ताकतों को तोड़ने की बेचैनी है। कवि अपने अंधकार के मलबे में मनुष्य की गरिमा और अस्तित्व के सत्य के चमकदार कणों को टटोलता है।

इस लिहाज से देखें तो विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की कविता व्यापकता में चीजों को पकड़ती हैं और उनकी तमाम जटिलताओं और संश्लिष्टता के साथ 'वियतनाम' विषयक कविता इसी पर आधारित है- "बन्दूकों में ढूँढ़ते हैं किसान अपनी अस्मिता/स्त्रियाँ बच्चों की आँखों में टटोलती हैं अपना भविष्य/जवानी के दिन उन्हें याद नहीं आते/बच्चे भूल चुके हैं ककहरे/हवाबाजों से कहो-उनका गणित गलत साबित होगा/इस वक्त कोई भी ग्रह अपनी धुरी पर/सही सलामत नहीं रह सकता/आदमी अपनी धुरी पर दृढ़ हो गया है/और यह वक्त है/तुम वापस कर दो-हमारा आकाश/हमारी मिट्टी/हमारी शिनाख्त।" (साथ चलते हुए, पृ०-10-11)। यहाँ कवि अपने चारों ओर की बिखरी निर्जीवता में खड़े होकर उस मिट्टी की ओर देखता है जिसमें अंकुर फूटते हैं।

मनुष्य के साथ मोर्चा लगाते हुए कवि नाउम्मीद नहीं होता। उसकी दृष्टि बराबर लगी रहती है, उस पर जो कि मनुष्यता को नष्ट कर देने पर तुले हुए हैं। कवि के शब्दों में- 'शिकारियों की गोलियों और कटते-कटते पेड़ों के बीच/मैंने अपनी भाषा और इंसानी आदतें खो दी हैं।/गो उम्मीद के बारे में मुझे कोई भम्र नहीं।' राजनैतिक तंत्र से बेतरह आक्रान्त समय में 'चीजें' इस कदर बदलती जा रही हैं कि असल और नकल का फर्क भी मिटता दिखायी देता है। कवि सतर्क करता है कि- "बाढ़ में बहता हुआ पुल/अचानक एक गोल इमारत बन जाता है/झील में ही चेहरा/प्रागैतिहासिक मुखौटा नजर आता है/आपको क्या पता/पिछली रात कौन-कौन हादसे हुए थे/और ओनवाली रात को/कौन-कौन षड्यंत्र होने वाले हैं?" (चीजें, साथ चलते हुए, पृ०-26)।

राजनैतिक व्यवस्था अपने-आप को बचाए रखने के लिए ही युद्ध करती है। इसका शिकार होता है मनुष्य और पददलित होती है व्यक्ति की गरिमा, आहत होती है उसकी अस्मिता। युद्धाक्रान्त परिवेश में 'मनोबल तड़प-तड़प कर दम तोड़ता है, संविधान के पन्ने हवा में फरफराते हैं, जले हुए गाँव और रौंदे हुए नगर, अन्तर्राष्ट्रीय आचरण संहिता का मरसिया गाते हैं। राजनति के 'आकाश में गड़गड़ाता अहं सब कुछ अपने अनुसार रचना चाहता है। या फिर नष्ट कर देना।' कवि अपने रचनात्मक स्तर पर 'सब कुछ नष्ट कर देने की राजनीति की मानसिकता' का प्रतिरोध करता है। वह मानता है कि 'पीड़ा से मुक्ति के लिए/सहनी होगी पीड़ा/लड़ाई से मुक्ति के लिए/लड़नी होगी लड़ाई।'

आदमियत को नष्ट करने में इतिहास और राजनीति की पूरकता और अदला-बदली के इस खेल को कवि जाग्रत दृष्टि से देखता है और वह इनसे निपटने के लिए आह्वान करता है। कवि इस चीज को रेखांकित करना चाहता है कि 'कुछ लोग दुःखी हैं कि बाकी लोग जिन्दा हैं' और यह आशंका भी व्यक्त करता है कि 'घोड़े जो खड़ी फसलें रौंदते हुए निकल गए थे/फिर लौट रहे हैं।' ऐसे में हमारा चौकन्ना और संघर्षसन्नद्ध रहना बेहद जरूरी हो जाता है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की कविता न केवल वैश्विक परिप्रेक्ष्य में, बल्कि घरेलू और राष्ट्रीय स्तर पर चलने वाली राजनीतिक कुटिलताओं, छद्म और षड्यंत्रों को भी बेनकाब करती है।

अपने काव्यमन्तव्य को अभिव्यक्त करने के लिए कवि सूक्ष्म सांकेतिकता का सहारा लेता है और चीजों को उनके उद्गम-स्थल तक जाकर पकड़ने का सार्थक प्रयास करता है। इसकी पुष्टि के लिए 'आरा मशीन' शीर्षक कविता को देख सकते हैं-

"चल रही है वह/इतने दर्प में/कि चिनगारियाँ छिटकती हैं उससे/दौड़े आ रहे हैं/अगल-बगल के यूकिलिप्टस/और हिमाचल के देवदार/उसके आतंक में खिंचे हुए/दूर-दूर अमराइयों में/पक्षियों का संगीत गायब हो गया है। गुठलियाँ बाँझ हो गई हैं/उसकी आवाज से/ मेरा बच्चा देख रहा है अचरज से/अपने समय का सबसे बड़ा चमत्कार/तेज नुकीले दाँत/घूमता हुआ पहिया और पट्टा/बच्चा किलकता है ताली बजाकर/मैं सिहर जाता हूँ/" (बेहतर दुनिया के लिए, पृ०-9-10)।

जीवन-संघर्ष में कवि अपने समय-परिवेश, मिट्टी और दूब, हवा और पानी और मनुष्य के धड़कते दिलों को अपने साथ लिए चलता है। इसमें कलम और शब्द भी उसका साथ देते हैं। वस्तुतः यह जीवनसंघर्ष कवि को विरासत में मिला है, अपने पुरखों से। ऐसा करते समय वह अतीत में जाकर, वर्तमान पर खड़ा रहकर, भविष्य को संबोधित करता है। बच्चे पर उसकी तमाम उम्मीदें टिकी हुई हैं। कवि के शब्दों में, उसके पुरखे 'एक माचिस की तीली थे। चले गए एक लौ जलाकर'। उनके लिए कवि के मन में गहन श्रद्धा और आत्मीयता है। इसलिए नहीं कि वे उसके पूर्वज थे, बल्कि इसलिए कि उन्होंने एक

अनवरत हौसला और जूझने की क्षमता प्रदान की- "अपनी खुरदुरी भाग्यरेखाओं वाले/काले हाथों से/उन्होंने मिट्टी में बसन्त/और बसन्त में फूल और फूल में भरे रंग/धधकाई थी भट्टियाँ/चट्टानों को बनाया था अन्नदा/किसी राजा का नहीं/इतिहास है यह शरीर में धड़कते हुए खून का/मेरे बच्चों/युद्ध थे वे/हमें छोड़ गए एक युद्ध में।" (अपने पुरखों के लिए, आखर अनन्त, पृ०-23)।

अपनी सांकेतिकता में गहन राजनैतिक आशयों को लिए हुए इन कविताओं में कवि का व्यंग्यात्मक तेवर भी देखा जा सकता है। व्यवस्था-पीड़ित आदमी के आक्रोश का यहाँ रचनात्मक उपयोग मिलता है। मसलन 'आदमी जिन्दा रह जाए। तो शासन की पराजय है।' कवि का व्यंग्य 'हाथ' शीर्षक कविता में सधे हुए रूप में प्रकट होता है- "सारी खुराफात की जड़ हैं ये हाथ/ये देखते हैं सुनते हैं/सूंघते हैं, बोलते हैं/उठते हैं, चुनौती देते हैं/हस्तक्षेप करते हैं व्यवस्था में/अव्यवस्था फैलाते हैं।" (बेहतर दुनिया के लिए, पृ०-61-62)।

तानाशाही अपने मन-वचन-कर्म से संपूर्ण रूप में व्यक्ति चेतना और व्यक्ति स्वातंत्र्य की खिलाफत करती है। इन कविताओं में जगह-जगह तानाशाही के प्रति कवि के तिरस्कार का स्वर अपने प्रकट रूप में-विद्यमान है। इसी क्रम में कवि कहता है- "तानाशाह/यही होना था एक दिन/तुम्हारे साथ/धरती घूम रही है अपनी धुरी पर/उग रहा है भोर का सूरज/बरगद होता जा रहा है छितनार/गौरैया फुदक रहीं आँगन में/सुर्ख होता जा रहा है फूलों का रंग/तितलियाँ मँडरा रही हैं/गाढ़ा होता जा रहा है/फलों का रस।" (तानाशह के बावजूद, आखर अनन्त, पृ०-67)। एक और कविता में तानाशाह के प्रति कवि का तिरस्कार भाव इस तरह व्यक्त हुआ है- "मैं विचार कर सकता हूँ/मैं भूखा रह सकता हूँ/मैं इंतजार कर सकता हूँ/मैं इनकार कर सकता हूँ/तानाशाह/मैं तुम्हारी परवाह नहीं करता/" (मैं तुम्हारी परवाह नहीं करता, बेहतर दुनिया के लिए, पृ०-78-79)। कवि की दृष्टि से सपने ही मनुष्य की सबसे बड़ी पूँजी होते हैं। तभी तो वह प्रश्न करता है- 'कहते हैं वे/अपने सपने बेच दो/क्या खरीदूँगा मैं/अपने सपने बेचकर। (वही, पृ०-30)

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की कविता एक बेहतर और निरापद जीवन-परिवेश के निर्माण के लिए आग्रहशील कविता है। वह ऐसे परिवेश के निर्माण का सपना देखने वाली कविता है जिसमें मनुष्य की स्वतंत्र अस्मिता अक्षुण्ण रहेगी, जिसमें मनुष्य की गरिमा सुरक्षित रहेगी। ऐसे परिवेश के निर्माण के लिए कवि लगातार जीवनसंघर्ष की अनिवार्यता पर बल देता है। जिजीविषा और सामूहिक संघर्ष चेतना समकालीन जीवन का पर्याय ही है। 'चुनौती' ही अब जीवन है- "फिर से एक बार जिन्दगी/शुरू करना चाहता हूँ/शुरू करना चाहता हूँ/फिर से इकट्ठे कर रहा हूँ तिनके/यह जो सूखी हुई गुठली से/फूट रहा है अँखुआ/इसी में लटकाऊँगा/मैं अपना संसार/ओ समुद्री तूफानों/ओ रेतीली आँधियों/ओ बर्फीली हवाओ/फिर चुनैती देना चाहता हूँ/तुम्हें इसी डाल से।" (आखर अनन्त, पृ०-92)।

इसी चुनौती के बल पर, आस्था और संघर्षशीलता के बल पर, कवि बेहतर दुनिया के निर्माण का सपना देखता है और संघर्ष से जुटे तमाम लोगों के प्रति विनत है- 'आप जो भी पढ़ रहे हैं/या सुन रहे हैं मेरी कविताएँ इस वक्त/आप जो भी सींच रहे हैं धानों के खेत-या कस रहे हैं ढीले पुर्जे/आप जो भी जगे-सोए देख रहे हैं बेहतर दुनिया के सपने/सबको नमस्कार।

बेहतर दुनिया के निर्माण की राह में अवरोध बनने वाली, संकट उपस्थित करने वाली प्रवृत्तियों को कवि खुला सन्देश देते हुए कहता है कि एक निरापद, ईमानदार और बेहतर दुनिया का निर्माण अवश्यम्भावी है- "तुम न चाहो तो भी दुनिया बदलेगी/शाश्वत कुँवारी धरती से/उभरेंगी छिपी हुई सूरतें/कुलाँचे भरेंगे मृगशावक/टैंकों, संगीनों, प्रक्षेपास्त्रों के बीच/अन्तरिक्ष के अनन्त विस्तार में तैरती/अँधेरे में चिड़ियों की तरह चहचहाती/गूँजती रहेंगी कविताएँ।" (बेहतर दुनिया के लिए, पृ०-113)।

यहाँ विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की काव्यभाषा और शिल्प की कतिपय विशिष्टताओं को भी रेखांकित किया जाना समीचीन जान पड़ता है। इन कविताओं में मनुष्य की अस्मिता के साथ-साथ शब्द की अस्मिता को बचाने की चिन्ता भी कवि बराबर करता है। इसे लेकर वह बेहद जाग्रत और सतर्क नजर आता है- "बहुत बुरा वक्त है यह शब्द के लिए/मैं अपने लाल-लाल शब्दों के साथ/पहुँचना चाहता हूँ धमनियों के रक्त तक/मैं अपने उजले-उजले शब्दों के साथ/पहुँचना चाहता हूँ स्तनों के दूध तक/रास्ते में मिलते हैं बटमार/जो शब्दों को कर देते हैं/निस्पंद और बेकार/बहुत बुरा वक्त है यह शब्द के लिए।" (आखर अनन्त, पृ०-66)। कवि यहाँ शब्द और उनके अर्थ के बीच की दूरी पाटने का प्रयास करता है और उसे उसकी गरिमा बहाल करने को प्रयासरत है। क्योंकि कवि की दृष्टि में "शब्द 'होने' का सबूत है"।

इन कविताओं में वक्र शब्द भंगिमा और इससे निःसृत होने वाला अर्थ प्रभावित करता है क्योंकि इससे समकालीन जीवन के अन्तर्विरोध और विसंगतियाँ गहराई में जाकर अपनी समग्रता में प्रकट होती हैं- "अभी-अभी लौटा हूँ उस अंधकार से/जहाँ वे पूछते थे तुम्हारे शब्दों के अर्थ/उन्हें कैसे समझाता/कि शब्द अर्थ ही होता है/या फिर व्यर्थ होता है/उन्होंने उन फैसलों को नहीं समझा/जिन्हें तुमने अपनी रोशनी में लिखा था।" (साथ चलते हुए, पृ०-45)।

बाह्य स्तर पर सहज-सरल लेकिन भीतरी स्तर पर संश्लिष्ट अर्थान्विति वाली काव्यभाषा को इनमें देखा जा सकता है। शब्दों की सांकेतिकता कविता में अतिरिक्त ताकत बनती है। यथा- "नहीं, आपद्धर्म नहीं/युद्ध इस दौर में/एक जरूरी कर्म बन गया है/फूलों से लपटें उठने लगी हैं/गर्म हो गई हैं बर्फीली चोटियाँ/नदियाँ खौलने लगी हैं।" (साथ चलते हुए, पृ०-48)।

विविध जीवनानुभवों तथा परिवेश से समन्वित काव्यभाषा को यहाँ लक्षित किया जा सकता है। इसमें मूर्त और जीवन्त बिम्बावली का सटीक और सार्थक उपयोग मिलता है। इसका एक उदाहरण- "पृथ्वी उसकी नहीं थी। जिस पर गिरा वह एक दिन/अपनी एक जोड़ी वेदना लिए/पृथ्वी बँधी थी सूरज और ग्रह नक्षत्रों से/वह अपने डैनों और चोंच से/उसने पत्थरों पर चोंच मारी/हवा से, जल से, धूप से की दोस्ती/वृक्षों पर बनाए घोंसले/शिकारियों से डरते और चुनौती देते हुए।" (आखर अनन्त)।

अपने काव्य मंतव्य को ठीक तरह से अभिव्यक्त करते के लिहाज से कवि मिथकों और इतिहास से जिस शब्दावली का चयन करता है, वह दूर तक जाकर अपनी चरितार्थता और औचित्य को प्रकट करती है। इसकी मदद से कवि जीवन संघर्ष को उसके त्रिकालिक आयामों में रखकर व्याख्यायित करता है। यथा-प्रतिरोध में कुछ लोग थे/जो अपने लिए नहीं/अपनी ऊँची गढ़ी के लिए लड़ रहे थे/जिसमें उनकी पद्मिनी घिर गई थी। कौन जीता कौन हारा/यह इतिहासकार नहीं कवि बताएगा। लेकिन-पहले लड़ाई तो खत्म हो।" (बेहतर दुनिया के लिए, पृ०-86)।

समग्रतः इतिहास, परिवेश, मिथक और प्रकृति के तत्त्व, एक साथ मिलकर इन कविताओं को संश्लिष्ट, अर्थगर्भा, प्रभावी स्वरूप प्रदान करते हैं। इस काव्यभाषा में मनुष्य की जिजीविषा, उसकी अस्मिता का संघर्ष और भाषा की अस्मिता का संघर्ष अविछिन्न दिखाई देता है। एक उदाहरण देखें- "शुरू करो क ख ग से/भाषा अर्थहीन हो गई है। लौटो और देखो/कुछ लोग अब भी खड़े हैं/लाख ढकेलने के बावजूद/ढहे नहीं हैं/बता दो पुलिस को/अँधेरे को, सन्नाटे को/अट्टहास करती, मुँह बिराती/मशीनों को, चीजों को/वे अभी हैं/हैं और ढहे नहीं है।" (साथ चलते हुए, पृ०-85-86)।

शिल्प के स्तर पर इन कविताओं की लय बेहद प्रभावित करती है जो जीवन-संघर्षों के तमाम उतार-चढ़ावों के बावजूद कहीं भी टूटती नहीं और न ही शिथिल होती है। दरअसल यहाँ मौजूद लय जीवन की गति, नैरन्तर्य और प्रवहशीलता को, जीवनसंघर्ष की अनवरतता को निरूपित करने में बेहद सक्षम है। इसे इन पंक्तियों में देख सकते हैं- "तेरी उद्दाम-जिजीविषा के साक्षी हैं/यह डगमगाती धरती/काँपते हुए लोग/जलते हुए शहर/सूखते हुए खेत/तेरे ही प्रतिरूप हैं/आइने में देख लो अपनी सूरत/खून के काले-काले धब्बे/कोड़ों के निशान/आजादी की तड़पन/विजय और धर्म के नाम पर होने वाले अत्याचार।" (चीजों को देखकर, पृ०-89)।

कविताओं में संबोधन की शैली अपनायी गई है। इससे न केवल कवि का जीवन और इससे संबद्ध चीजों से जुड़ाव और रचनात्मक सरोकार प्रकट होता है वरन् पाठक और कविता के मध्य एक आत्मीय रिश्ता बनता है। इससे कविता की विश्वसनीयता में सहायता

मिलती है। इस तरह की कविता की भाषा और शैली कवि के मन्तव्य को उसके गन्तव्य तक सम्प्रेषित करने में बेहद सफल और सार्थक सिद्ध होती है।

समकालीन कविता में पिछले कुछ बरसों के दौरान अनेक नई चीजों का प्रवेश हुआ है। इससे कविता की विषयवस्तु, भाषा, अर्थान्विति, सामाजिक-कलात्मक सम्पृक्ति तथा सम्प्रेषणीयता के लिहाज से महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया है। कविता में अब तक घर किए हुए 'विरोध', 'रोष' अथवा 'आक्रोश' जैसे तेवर लगभग अदृश्य होने की राह पर हैं। बजाय इसके, इन दिनों लिखी जा रही कविता में लोक भाषा का नैकट्य बढ़ा है। आंचलिक शब्दावली का बरताव और विकसित हुआ है। फलतः अपनी अर्थसम्प्रेषणीयता, अर्थान्विति तथा विश्वसनीयता के नजरिए से कविता पाठक से ज्यादा तादात्म्य स्थापित करने में सक्षम हो रही है।

अब पाठक को रोमांचित कर देना और चौंका देना कविता का अभिप्रेत नहीं रहा है अपितु उसकी काव्यात्मक समझ को ज्यादा व्यापकत्व प्रदान करना तथा उसको अपने चारों ओर के परिवेश को नए सिरे से जाँचने-परखने का अवसर जुटाना भी काव्यात्मक सरोकारों में शामिल हो रहा है।

गम्भीर काव्यात्मक परिक्षेत्र में निरन्तर सक्रिय कवियों पर दृष्टिपात इस बात की ताईद करता है कि बिम्ब-प्रतीकों, तर्क तथा आरोप-प्रत्यारोप का घटाटोप रचने या उसमें घिरने की यहाँ कोई दिलचस्पी नहीं है। अगर है तो मानवीय अस्मिता तथा परिवेश सम्पृक्त समय प्रवाह के समक्ष विभिन्न अवधारणाओं, अनुभूतिजन्य सत्य तथा यथार्थ को इनकी 'प्रेस वैल्यू' के परिप्रेक्ष्य में देखने-परखने में ही है। इसीलिए इनमें किसी प्रकार शब्दजाल नहीं पनपता। हाल के बरसों में दृष्टव्य कविता दरअसल अपनी लोकभाषा समीपता, शिल्प, लय तथा सहज प्रवाह के सहारे अपनी सार्थकता दिखाने को तत्पर है, और यह सब 'सायास' नहीं 'अनायास' रूप में हो रहा है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि मौजूदा समय की कविता अपने स्तर पर जीवन को किसी के 'मार्फत' नहीं, वरन् काव्यत्व की आँख से ही पकड़ने को सन्नद्ध है। इसीलिए यह कह सकते हैं कि ताजा काव्यधारा स्वयं 'मौका-ए-मुआयना' करने वाली कविता का पर्याय है। इसकी सघनता, घनत्व और त्वरा कई चीजों से संश्लिष्ट है। अनेक उतार-चढ़ावों, बारीकियों, फिसलनों और अनुभूतिपरक-संवेदना की सिहरन पर भरोसा जताते हुए यह अपने ही बहाने औरों में शामिल होने का गम्भीर कार्य कर रही है। अतएव इस कविता का लिहाज है। यह लिहाज ही इसकी आधारभूमि है। यह जीवन को सर्वांगी दृष्टिकोण से तलाशने तराशने वाली कविता है। सामाजिक-सांस्कृतिक संक्रमण को नए सिरे से पुनर्व्याख्यायित करना भी इस सर्वांगी दृष्टिकोण का एक पक्ष है।

'चीजों को देख कर', 'साथ चलते हुए' और 'बेहतर दुनिया के लिए' जैसे काव्य-संग्रहों के बाद डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के काव्य संग्रह 'आखर अनन्त' की कविताएँ इसी विश्वास का विस्तार करती हैं। फ्लैप की टिप्पणी के मुताबिक ये कविताएँ लोक गीतों की मर्मस्पर्शी सहजता और सांकेतिकता लिए हुए, प्रतिबद्ध जनचेतना की कविताएँ हैं। इन कविताओं में धूल से उठाए गए, लोक की गंध से महकते शब्द सम्पूर्ण परिवेश को मूर्त तथा लोक विश्वासों, मिथकों और स्मृतियों को ताजा करने वाले हैं।"

अपने कथ्य, भाव भूमि, लयात्मकता तथा विषयवस्तु, के निर्वहन की निगाह से- 'अखर अनन्त' की कविताएँ, उक्त टिप्पणी के बरअक्स अतिरंजक नहीं ठहरतीं। असल में डॉ० तिवारी की कविता तमाम सामाजिक-सांकृतिक और राजनैतिक परिस्थितियों के जड़ाव से मुक्त होने वाली, उक्त जड़त्व से मुक्त होने का आह्वान करती कविता है, जो समकालीन मनुष्य को यह प्रतीत कराती है कि तमाम साधन-सुविधाओं के बावजूद उसके लिए बहुत कुछ ऐसा है जो कि उसका अपना, निजी, आत्मीय तथा विशिष्ट है लेकिन जो उसकी पकड़ से लगातार छूटता जा रहा है। बहुत कुछ ऐसा है जो उसके लिए व्याख्येय है लेकिन जो अपने स्तर पर, मुनष्य के लिए व्याख्या से परे होता जा रहा है।

मनुष्य को केन्द्र में रखकर, उसके पारिवारिक सन्दर्भ को विचाराधीन रखते हुए, अव्याख्येय गुत्थियों को सुलझाने तथा प्रस्तुत चुनौतियों को परिभाषित करने में 'आखर-अनन्त' की कविताएँ निरन्तर सचेष्ट नजर आती हैं। इसमें ही इन कविताओं की सादगी, सहजता तथा आत्मीयता का तत्त्व निहित है, काव्य संयम और सन्तुलन भी। इसीलिए इन कविताओं का मुख्य स्वर मनुष्य की निजी अस्मिता तथा उसके परिवेश की पहचान का स्वर ही है।

अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के स्तर पर मिथकों का सजग काव्यात्मक उपयोग डॉ० तिवारी सफलतापूर्वक करते हैं। इसका प्रमाण है 'माँ के बारे में' लिखी गयी कविताओं की शृंखला में उपस्थित मिथकों तथा लोक विश्वासों का समन्वय। 'उड़ गयी माँ', 'नहीं दिखेगी माँ', 'यमदूत ढूँढ़ रहे हैं माँ को', 'कैसे जाएगी माँ', 'अचानक नहीं गई माँ', माँ नहीं थी वह', तथा 'माँ और आग' जैसी कविताएँ अपनी संवदेना, सामीप्य, सहजता तथा भाषा की सर्जनात्मक लय के कारण अपने समय की विशिष्ट कविताएँ बन गई हैं। इन कविताओं में भाषा तथा यथार्थ के बीच की दूरी को लोक भाषा के सहारे आसानी से पाटा गया है, तभी तो ये गति नैरंतर्य तथा उथल-पुथल से निस्सृत यथार्थ के समान्तर चहलकदमी करती दिखाई देती हैं।

प्रस्तुत कविताओं में बेहद घरेलू चीजों, मामूली से प्रतीत होते अनुभवों और व्यवहारों के माध्यम से उस व्यापक यथार्थ की अभिव्यक्ति होती है जिसमें मनुष्य की छटपटाहट के साथ उसके अस्मितागत संघर्ष की अनुगूंजें मौजूद हैं। ये छोटे और साधारण लगने वाले अनुभव भीतरी सतहों पर कहीं बड़े तथा बहुस्तरीय अनुभवों से जुड़े हैं और

यही एक महत्त्वपूर्ण वजह है कि इन कविताओं में व्यक्तिगत और सामाजिक, राजनैतिक और अराजनैतिक, स्थानीय और सार्वभौतिक जैसा पार्थक्य न होकर वास्तविक द्वन्द्वात्मकता का समावेश हो पाता है। डॉ० तिवारी की कविता में अनुभूति और संवेदना की अप्रत्याशित सघनता तथा वैचारिकता पाठक का ध्यान बरबस आकृष्ट कर लेती हैं।

'माँ विषयक उनकी कविताओं में भाव-विह्लता नहीं, अपितु एक तरह की सहज विश्वसनीय मार्मिकता हैं। यह सम्भव इसलिए भी होता क्योंकि इनमें परिपुष्ट आधारभूमि है जो कि जन-जीवन की सरलता, लोकरंग और लोकआस्था के तत्त्वों से संलिष्ट है। 'अचानक नहीं गई माँ' शीर्षक की पंक्तियाँ इसका संकेत देती हैं-

जैसे चला जाता है टोंटी का पानी/या तानाशाह का सिंहासन
थोड़ा-थोड़ा रोज गई वह
जैसे जाती है कलम से स्याही
जैसे घिसता है शब्द से अर्थ
.....
अचानक नहीं गई माँ
थोड़ा-थोड़ा रोज गई
जैसे-जाती है आँख की रोशनी
या अतीत की स्मृति।

काव्यभाषा की जीवन्तता और शब्द सक्रियता प्रवाह पर निर्भर करती है और यह प्रवाह छंद-लय पर। डॉ० तिवारी की कविता में लय का अतिप्रभावी और सजग उपयोग मिलता है। यह इन की अतिरिक्त ताकत है। संपूर्ण सृष्टि एक छंद में संचालित है। छंद लय का ही विशिष्ट रूप है। लय अधिक सूक्ष्म है, मुक्त है। उसमें वर्णों या भाषाओं का बंधन नहीं होता, जैसा कि छन्द में। प्रकाश की गति में, समुद्र की लहरों में, मौसम के बदलाव में, मनुष्य की छड़कन में, श्वास-प्रश्वास में रक्त की गति में, सर्वत्र ही इस लय को लक्षित किया जा सकता है। संपूर्ण प्रकृति की एक लय है, सभी कलाओं की भी। भाषा की आत्मीयता और सर्जनात्मक लय का बेहतर उदाहरण निम्नांकित पंक्तियों में देखा जा सकता है-

नहीं दिखेगी माँ,
फिर कभी इस रूप में
.....
डाकुओं का हल्ला होगा आधी रात
तनेंगी लाठियाँ
सियार रोएँगे खेतों में

आएँगे भरथरी गाने वाले रमता जोगी
गाएँगे रानी पिंगला के गीत
बस माँ नहीं होगी
उन्हें भिक्षा देने के लिए
तोता फड़फड़ाएगा पिंजड़े में
थाली में लड़ेंगी बिल्लियाँ
दिखेंगे नागपंचमी के साँप
दशहरे के नीलकण्ठ
क्वार के खंजन
बस माँ नहीं दिखेगी
फिर कभी इस रूप में। (नहीं दिखेगी माँ)

जैसा कि कहा जा चुका है, 'कन्विन्सिबिलिटी' 'आखर अनन्त' में समाहित कविताओं का प्रबल पक्ष है, और यह भाषात्मक सजगता, लोक आस्था, संवेदनापरक सूक्ष्मता और कवि की जीवन्त संपृक्तियों के कारण संभव हुआ है।

यहाँ इस बात को भी लक्षित किया जाना चाहिए कि कवि समकालीन जीवनसंदर्भों से गहरे तक जुड़ा हुआ है लेकिन जब कविता में युगीन परिप्रेक्ष्य को मुखर करने का अवसर आता, वह धीरे से दूर हट कर पाठक को कविता से रू-ब-रू कर देता है। कवि का यह 'डिटैचमेंट' पाठक की काव्यात्मक समझ-बूझ को व्यापकत्व प्रदान करने वाला सक्षम उपाय बन जाता है। विशेषत: उन कविताओं में, जहाँ सामाजिक व राजनैतिक वर्ण्यवस्तु का समावेश होता है। कवि का यह 'डिटैचमेंट' उल्लेखनीय सीमा तक मौजूद है। दो उदाहरण काफी होंगे। पहला है-

आज अचानक दीख गया/
सड़क पर एक लम्बा आदमी
शहर में आग की तरह फैल गयी थी
यह खबर/निकल पड़े थे अपने अपने घरों से
बौने लोग
चौकन्ने हो गए थे अखबार
सेना कर दी गई थी सतर्क
मंत्रीपरिषद् में चल रहा था विचार

एक बुढ़िया
अपने पोते-पोतियों को जुटाकर
दिखा रही थी
कि सतयुग में होते थे
ऐसे ही लम्बे आदमी (सड़क पर लम्बा आदमी)

इस मानवविरोधी समकालीन परिवेश में कवि की आस्था बच सकी है तो वह बच्चों में, लड़कियों में और शब्द में ही बची है। ये कवि के लिए परिवर्तन, समाज और सृजन को पुनर्सम्भव करने वाले विश्वस्त सहारे हैं जो कि उसकी काव्यात्मक रगों में रच-बस गए हैं। 'अपने पुरखों के लिए', 'एक बच्चे का जन्म', 'बच्चे का गोलक', 'सवाल', 'ईश्वर तुम्हारी मदद चाहता है', 'बीज हूँ मैं', 'एक रहस्य', 'आग', 'शरारती बच्चा', 'कोशिश' और 'आखर अनन्त' जैसी कविताओं में न केवल कवि की जिजीविषा की, बल्कि इस जिजीविषा को मुखरित करने वाले बच्चे की अनगिनत सक्रियताओं की अभिव्यक्ति हुई है। इनमें जीवन के अनगिनत उतार-चढ़ाव और रंग उपस्थित हैं। इनमें कवि की उम्मीदें स्वयं से और बच्चे से निराधार नहीं हैं, बल्कि चिरपरिचित हैं इसीलिए कवि को जगह-जगह तर्क का सहारा लेकर प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, वह स्वत: सिद्ध है। 'सवाल' शीर्षक कविता में यह जिजीविषा यों मुखरित होती है-

अठारह अक्षौहिणी सेना के कट जाने के बाद
जो बच गया/वह एक सवाल था
सृष्टि की सारी स्याही चुक जाने के बाद
जो बच गया/वह एक सवाल था
सच यह है दोस्तों/
कि कुछ भी सच नहीं है
सोचना/मेरे बच्चों/
मिट्टी के धीरज और दूब की विनम्रता के साथ/
सोचना
कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ/
वह भी सच नहीं हैं

'नहीं बीतोगी तुम', 'उन आँखों में' तथा 'अमर प्रेम का वह क्षण' इत्यादि कविताओं में उपस्थित लड़कियाँ और स्त्रियाँ अपने-अपने स्तर पर मुखलिफ हवा में साँस

लेती नजर आती है। उनकी विवशता वहाँ है, लेकिन टूटन या पराभव के चिह्न नहीं दिखते। ये काव्य पंक्तियाँ देखें-

यह सदी बीत भी जाए
नहीं बीतोगी तुम
दिशा में और काल में
गूँजता रहेगा पक्षियों का संगीत (नहीं बीतोगी तुम)

कवि की उन्मीदों का एक फलक शब्द सामर्थ्य पर टिका हुआ है। 'शब्द के लिए जगह', 'कवि की पाण्डुलिपि', 'अपने प्रिय कवि की तलाश', 'तानाशाह के बावजूद', 'इतिहास की आशा', 'मुझे संतोष है', 'कलम', 'प्रार्थना' तथा 'शब्द के लिए बुरा वक्त जैसी कविताएँ इसी प्रकार के शब्द बोध की संवाहक कविताएँ हैं। इसी शब्द संकल्प तथा दृढ़विश्वास की बानगी स्वरूप ये काव्य पंक्तियाँ-

बहुत बुरा वक्त है यह शब्द के लिए
मैं अपने लाल-लाल शब्दों के साथ
पहुँचना चाहता हूँ धमनियों के रक्त तक
मैं अपने उजले-उजले शब्दों के साथ
पहुँचना चाहता हूँ स्तनों के दूध तक

मानवीय आस्था से, विश्वासों के कवि का गहन तादात्म्य बताने के लिए इन कविताओं में बार-बार 'करोड़ों हिमपातों/अरबों भूकम्पों/उल्कापातों/आघातों के बाद भी 'आदमी अपनी इन्द्रियों के साथ सही-सलामत बच रहता है' और कवि 'धरती पर', 'कागज पर', 'कुछ अमरबीज', 'अनन्त-आखर' छिड़क देता है। इसलिए यह टिप्पणी अपनी जगह सार्थक ठहरती है कि इन कविताओं में वह अजेय मनुष्य सर्वत्र उपस्थित है जो इतिहास के महा महासमरों में मेमने की तरह जिबह किये जाने के बाद भी, सारे गुणा-भाग और जोड़-बाकी के बाद भी, साहस के अंक की तरह बच जाता है।

डॉ० तिवारी की इन कविताओं में आदमी अनेक बार 'राजधानी की ओर' भागता नजर आता है, जो कि समकालीन परिवेश से सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य संक्रमणों की ओर संकेत है। लेकिन इसका विडम्बना जनक पक्ष यह है कि राजधानी में जीवनयापन के पर्याप्त अवसर न मिलने पर अगर मिल भी जाए, तो शोषित होकर वह अंततः वापस लौटता गाँव की ओर ही है, जहाँ अब भी जीवन के रागात्मक संबंधों की, मानवीय ऊष्मा के संस्पर्शों की प्रवहमानता है।

यहाँ 'स्त्री' की विवशता, असहायता और निरूपायता भी बारम्बार उभरती है परंतु इनमें व्यर्थ की भावुकता नहीं है और आधारहीन नारेबाजी भी नहीं है। कवि का सरोकार

कुल मिलाकर मौजूदा दौर से नारी की परिवेशगत स्थिति को दर्शाना ही है और उसमें भी प्रेम और सृजनात्मक भूमिका की ओर संकेत करते हुए स्त्री द्वारा कुछ न कुछ हमेशा देते रहने की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर केंद्रित होता है। 'लड़कियाँ', 'एक सुबह', 'इक्कीसवीं सदी का रथ' आदि इसी भावबोध की कविताएँ हैं, परंतु 'रूपकुँवरि', शीर्षक कविता को विशिष्ट कविता का दर्जा दिया जा सकता है। यद्यपि 'आखर अनन्त' की कविताओं में राग, करुणा, विचार और इन्द्रियबोध का संतुलन है, मनुष्य के भीतर छिपी मनुष्यता को पाने, पहचानने की कोशिश है, लेकिन 'रूपकुँवरि' कविता में यह सब गहराई तक जाकर प्रस्फुटित हुआ है–

चुनौती नहीं है यह/आँचल पसारती हूँ तुम्हारे आगे/
रूपकुँवरि
इस वक्त मैं जहाँ हूँ/खत्म हो गई है धरती/
और पीछे छँट गया है ईश्वर
कितना कुछ छोड़ना पड़ता है/करनी पड़ती है कितनी लम्बी/यात्रा
स्त्री होने के लिए/और मरने के पहले

.....

चूँकि कवि का काव्यजगत जीवन्त, जीते-जागते, जमीन से जुड़े जनमानस का संसार है, अतएव कवि के काव्यात्मक सरोकार भी इसी अनुपात में बहुगुणित हो जाते हैं। इसलिए इनमें श्रम की महत्ता को उकेरते 'गोरखपुर का भइया', ऊँघता संतरी' और 'पहाड़ी बहादुर' जैसे चरित्र आते हैं। दूसरी ओर प्रस्तुत संकलन में 'लोग गायब हो रहे हैं', 'रुपया', 'देना पड़ेगा हिसाब', 'तानाशाह के बावजूद', 'समय', 'कैसे थे हम लोग', जैसी कविताओं में मानवीय संबंधों के क्रमिक क्षरण, विकास के घटाटोप में दम तोड़ते जीवन मूल्य, बौद्धिक वर्ग द्वारा अपनाए जाने वाले पलायन भाव तथा आत्मप्रताड़ना को भी लक्षित किया जा सकता है। राजनैतिक तंत्र के दम्भ, दमन तथा उत्पीड़न को लेकर कवि की व्याकुलता को 'आत्मा', 'आत्मा की वह धुन', 'रीढ़', 'कनाट प्लेस', 'गाँव गया था मैं', 'एक सुबह', 'सैनिक' और 'चुनौती' जैसी कविताओं में पकड़ा जा सकता है।

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, 'आखर अनन्त' की कविताओं में भाषा के स्तर पर विश्वसनीयता (कन्विन्सिबिलिटी) महत्त्वपूर्ण तत्त्व बनकर उजागर होती है। इसी से इनमें संवेदनशीलता संलग्नता, आत्मीयता और सर्जनात्मकता का संश्लेषण हो सकता है। लेकिन एक और कारण भी है। डॉ० तिवारी की काव्यभाषा में शब्दों का 'बीहड़', नहीं है वरन् शब्दों की 'बस्ती' है जो अनुभवसंपन्न, लोकसंपृक्त जीवन और जड़ों पर आद्धृत है। इसलिए यह आकारण नहीं है कि इन कविताओं में आए अनेक लोकपरक

शब्दों, यथा खोंते, डुगुरते, सुकवा, षटमचिया, संझापराती, भिनुसार, अमावट फेकरते, कल्हारे, खदबदाते, कउड़े, नहारी, फींचेगी, गोंइठें, अहिवात, सिन्होरा, चिरई-चुरूंग, कड़ाकुल, कुँकियाते, कोहबर, उटुंग, मानसर, मज्जन-पान तथा छींट दिए आदि के जरिए पाठक की अनुभूतियों को व्यापक धरातल मिलता है और कविता की अर्थसंभवता को गहराई और विस्तार। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उनकी कविताओं में जो सोच और बरताव है यह किसी स्निग्ध और आत्ममोहित स्थिति की ओर उन्मुख नहीं, वरन् करुणा, अवसाद, मूल्यविघटन और विकलता के नवीन अर्थ-संकेत पैदा करता है।

डॉ० तिवारी की कविता मिथकों से रची बसी कविता है। वाइकों ने मिथक को ऐसी स्पष्ट, गहरी नदी कहा है जो कि वर्तमान से समुद्र में गिरती जरूर है लेकिन अपनी तमाम परिशुद्धता (प्योरिटी) को बचाकर एक निश्चित फासला रखते हुए। यहाँ मिथक जीवन संघर्षों तथा अन्विति को सामाजिक-प्राकृतिक परिवेश के बरअक्स परिभाषित करने के विरेचनात्मक कार्य (केथार्टिक फंक्शन) को अंजाम देते हैं। यही कारण है कि सामान्य रूप से जो कुछ भी सहज-साधारण है उससे अधिक भी कुछ है और यह अधिक हमें मिथकों की सहायता से ही दिखाई देता है।

मिथक परम्परा का आधार लोक आस्था और विश्वास में ही निहित होता है। हमारे लिए सुस्पष्ट सोच एवं अभिप्रेरणा का निमित भी मिथक ही है। यह ठीक है कि इस जगत में बहुत सारी चीजों, तत्त्वों, जीवों का अस्तित्त्व है लेकिन इनका अस्तित्व क्यों? कैसे? किसके लिए है? इसका सुस्थापित समाधान मिथकों के जरिए ही संभव होता है। वर्तमान की अतीत तथा भविष्य से तार्किक एवं सतत्संगति को समझने के लिए भी हमें मिथकों के ही पास जाना पड़ता है। रिचर्ड चेज तो यहाँ तक मानते हैं कि मिथक काव्यात्मक साहित्य के इतर कुछ भी नहीं है। कला की भाँति ये भी विचार-प्रणाली और जीवन-पद्धति हैं। अतएव सुपरिचित जीवन संदर्भों का कविता में समावेश संभव करने के लिए कवि को मिथकों का उपयोग करना होता है। इस भूमिका का निर्वाह करते हुए ये सकल ब्रह्माण्ड के भाष्यकार बनकर उजागर होता हैं।

'मगध' और गरूड़ किसने देखा है' जैसे काव्य संग्रहों में श्रीकांत वर्मा ने भी मिथकों का भरपूर इस्तेमाल किया है लेकिन डॉ० विश्वानाथ प्रसाद तिवारी की कविता में प्रयुक्त मिथक कुछ भिन्न तरह से, भिन्न स्रोत के लिए गए हैं। श्रीकांत वर्मा मिथकों की खोज में इतिहास तक जाते हैं। यह आवश्यक नहीं कि ऐतिहासिक मिथक हमारे दैनदिन जीवन में रचे-बचे, घुले-मिले हों ही। नि:संदेह अशोक, बिम्बिसार, देवदत्त, कलिंग, कपिलवस्तु तथा अवन्ति इत्यादि मिथक संज्ञाएँ हमारी ऐतिहासिक सांस्कृतिक धरोहर का अविच्छिन्न हिस्सा तो हैं लेकिन वे लोकजीवन की दिनचर्या में अत्यावश्यक रूप से ढले हुए नहीं हैं। पौराणिक मिथकों के साथ भी यह बात हैं। वे हमारी सोच, जीवनचर्या, आस्थाओं में गहरे तक पैठे हुए हैं। पाठक के समक्ष इनकों अपने औचित्य, संगीत और

प्रासंगिकता को सिद्ध नहीं करना पड़ता। वे तो स्वतः सिद्ध होती हैं। इसीलिए वे यह बता पाने में सक्षम होते हैं कि यथार्थ से कुछ अधिक है तो वह क्या है?

इसीलिए इन कविताओं में पौराणिक मिथकों का सहज प्रवाह काल की विकरालता को, मानवविरोधी परिस्थितियों को तथा इसके लिए जवाबदेह कारणों की पड़ताल करने में सफल रहता है।

तमाम विपरीत हालात से बच निकलने का मार्ग भी इनसे ही प्रशस्त होता है। इस दृष्टि से देखें तो कवि के लिए मिथक ठोस काव्य तर्क का काम करते हैं। कुछ उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य हैं–

यमदूत ढूँढ रहे हैं माँ को
उसने चुनौती दी है/ब्रह्मा को विष्णु को महेश को/
रचा है एक प्रतिरूप/सृष्टि की सबसे बड़ी मुश्किल को/
आसान बनाया है/आसान को बनाया है/मुश्किल
यमदूत ढूँढ रहे हैं माँ को

दूसरा–

इसी में बहती है
मन्दाकिनी अलकनन्दा
इसी में चमकते हैं
कैलाश नीलकण्ठ
इसी में खिलते हैं
ब्रह्मकमल
इसी में फड़फड़ाते हैं
मानसर के हंस।

❑❑❑

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के यात्रावृत्त

माधव कौशिक

मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों में घूमना-फिरना, यात्राएँ करना, नये लोगों तथा नये स्थानों के बारे में जानकारी हासिल करना सर्वप्रमुख मानी गई है। आदिकाल से मानव की घुमक्कड़ी ने ही संसार को एक सूत्र में बाँधने की कला सिखाई। इस यायावरी का प्रारंभ तो पाषाणयुग से ही हो गया था जो काल के साथ उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। अब तो 'स्टोन ऐज' से आरंभ हुई यह यात्रा 'स्पेस ऐज' तक पहुँच गई है।

भारतीय संस्कृति में देशाटन को अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। देशाटन परंपरा का निर्वहन करने वाले ऋषि-मुनियों ने पूरी पृथ्वी का चप्पा-चप्पा छान मारा था। संपूर्ण विश्व को एक कुटुंब के रूप में देखने वाली सभ्यता के पाँव हमेशा गतिशील रहे तथा हमारे देश के अनेकानेक विद्वानों ने पूरे विश्व की यात्राएँ कीं। किंतु आश्चर्य की बात यह है कि इस यात्रा-प्रेमी समाज ने अपने अनुभवों को कायदे से सँभालने-सँजोने का प्रयत्न नहीं किया। यही वजह है कि हिंदी साहित्य में यात्रा संस्मरणों की उपस्थिति बहुत ही कम रही है। राहुल सांकृत्यायन, रामवृक्ष बेनीपुरी, अज्ञेय तथा निर्मल वर्मा इत्यादि लेखकों की गिनती दस का आँकड़ा भी पार नहीं कर पाती कि यात्रा-साहित्य की सीढ़ियाँ समाप्त हो जाती हैं।

भारतीय संस्कृति में देशाटन को अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। देशाटन परंपरा का निर्वहन करने वाले ऋषि-मुनियों ने पूरी पृथ्वी का चप्पा-चप्पा छान मारा था। संपूर्ण विश्व को एक कुटुंब के रूप में देखने वाली सभ्यता के पाँव हमेशा गतिशील रहे तथा हमारे देश के अनेकानेक विद्वानों ने पूरे विश्व की यात्राएँ कीं। किंतु आश्चर्य की बात यह है कि इस यात्रा-प्रेमी समाज ने अपने अनुभवों को कायदे से सँभालने-सँजोने का प्रयत्न नहीं किया। यही वजह है कि हिंदी साहित्य में यात्रा संस्मरणों की उपस्थिति बहुत ही कम रही है।

यात्राएँ करना तथा यात्रा संस्मरण लिखना दो बिल्कुल अलग कार्य हैं। यात्राओं का रोमांच तथा अनुभवों को लिखने की कला कितनी कठिन है, इसका अंदाजा इसी अल्प उपलब्धि से ही लगाया जा सकता है। अधिकांश यात्रा संस्मरण इतने स्थूल होते हैं कि उन्हें ट्रेवल गाइड की ही संज्ञा दी जा सकती है।

केवल भौगोलिक सूचनाएँ तथा स्थानीय आँकड़े तो कंप्यूटर पर भी उपलब्ध हैं। उनमें सृजनात्मकता की आँच को फूँकने तथा मानवीय संवेदनाओं का अलाव जलाने का कार्य तो एक बड़ा रचनाकार ही कर सकता है।

हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार एवं चिंतक डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की यात्रा संस्मरणों की बहुचर्चित पुस्तकों से गुजरना मेरे लिए एक सुखद अनुभव से कम नहीं रहा। इन चयनित यात्रा-वृत्तांतों को मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम-भारत वर्ष के विभिन्न प्रांतों के यात्रा संस्मरण तथा दूसरे-विदेश यात्राओं के बेजोड़ वृत्तांत।

भारत के विभिन्न प्रांतों में घूमते डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी उस अंचल की जीवन-शैली से लेकर उसके इतिहास की जड़ों तक पहुँचकर अद्यतन स्थितियों का विवेचन और विश्लेषण करते हैं। उत्तराखंड में स्थित केदारनाथ यात्रा का 'देवतात्मा का साक्षात्कार', चित्रकूट यात्रा का 'पत्थर जो बन गए तीर्थ' के अतिरिक्त, नारियल प्रदेश केरल, उत्कल प्रांत में पुरी-भुवनेश्वर, द्वापर युग का स्मरण करवाता गुजरात तथा सोमनाथ मंदिर की भव्यता को उजागर करनेवाले ये सभी संस्मरण पाठकों के समक्ष संपूर्ण आर्यावर्त की हजारों वर्ष पुरानी परंपराओं तथा सनातन जीवन-मूल्यों से अवगत करवाते हैं। वहाँ के वन्य जीवन से लेकर वनस्पति जगत की जानकारी शृंखलाबद्ध हो पाठकों के सामने ऐसे आती है मानों वह स्वयं रचनाकार के साथ प्रत्येक स्थान पर उपस्थित रही हो। हिमाच्छादित पहाड़, समुद्र तट की हिलोर, वेग से गिरते जल-प्रपात, कल-कल करती नदियों के स्त्रोत, उमड़-घुमड़कर आते काले बादल, डॉ० तिवारी की कलम का संस्पर्श पाते ही जीवंत हो उठते हैं। संपूर्ण प्रकृति अपने आदिम सौंदर्य के साथ पृष्ठों पर नाचती-गाती प्रतीत होती है। डॉ० तिवारी की अनूठी सौंदर्य-दृष्टि से अनुप्राणित पूरे भारत का नयाभिराम चित्र पाठकों को मंत्रमुग्ध कर देता है।

'देवतात्मा का साक्षात्कार' का यह अंश लेखक के विलक्षण सौंदर्य-बोध को उद्घाटित करने वाला घोषण-पत्र प्रतीत होता है। वे लिखते हैं- "पर गढ़वाल का सौंदर्य सामान्य सौंदर्य नहीं है। केवल सैलानियों के लिए नहीं है यहाँ का सौंदर्य। यह दिव्य सौंदर्य है। जो लोभ पैदा नहीं करता। वासना नहीं जगाता। बाँधता नहीं, मुक्त करता है। यह सौंदर्य नगाधिराज हिमालय का नहीं, देवतात्मा हिमालय का है। 'गीता' में कृष्ण ने जिस हिमालय के लिए कहा था 'स्थावराणां हिमालयः' अर्थात् मैं स्थिर वस्तुओं में हिमालय हूँ। यह वही हिमालय है, मेरा सपना।"

उपर्युक्त अंश किसी भी व्यक्ति की सौंदर्य-बोध क्षमता का विस्तार दिव्यता की सीमाओं तक करने में समर्थ है। वह अपने मानस में सामान्य वस्तुओं को विराट आकार लेते अनुभव करने लगता है।

अगिन असनान की धरती राजस्थान, नारियल प्रदेश केरल, उत्कल भूमि उड़ीसा तथा गुजरात यात्रा से संबंधित आलेखों में लेखक ने भारतीय कला-कौशल, वास्तु-शिल्प, स्थापत्य के साथ-साथ प्राचीन राजाओं की सोच व संवेदना को भी उजागर किया है। खजुराहो का आदिम सौंदर्य, सोमनाथ की भव्यता, चित्रकूट की अलौकिक महिमा, केरल के खूबसूरत समुद्र-तट, राजस्थान की वीरता, उत्कल प्रदेश की विनम्र सौम्यता के बीच से गुजरते हुए रचनाकार ने जो भी अनुभव किया, उसे पूरी ईमानदारी से कलमबद्ध किया है। यहाँ तक कि प्राचीन राजाओं और सम्राटों की ऐतिहासिक भूलों तथा उनके दूरगामी प्रभावों को रेखांकित करते हुए रचनाकार की मंशा भारत के संपूर्ण एवं वैविध्यपूर्ण जीवन की सच्ची व सही तस्वीर प्रस्तुत करना है। दक्षिणी भारत की समाज-संरचना एवं राजनीतिक घटनाचक्र के साथ-साथ सांस्कृतिक विकास की जानकारी पाठकों की आत्मा को तुष्ट तथा मानस को समृद्ध करने वाली है।

भारत के विभिन्न भागों में विचरण करते हुए डॉ० तिवारी की दृष्टि सदैव भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्यों का विश्लेषण व विवेचन करने पर अधिक रहती है। वे इतिहास की गहरी कंदराओं में पैठकर, विस्मृतियों की तमाम परतें हटाकर, पाँच हजार वर्ष पुरानी अपनी संस्कृति के रोएँ-रेशे हमारे समक्ष प्रस्तुत कर देते हैं। किन प्रकार भौगोलिक परिस्थितियों ने मानव-जीवन के प्रत्येक पहलू को कितना प्रभावित किया है तथा वर्तमान अपने अतीत को कितना रूपांतरित कर पाया है, यह इन पृष्ठों में लेखक ने बड़ी सूझबूझ तथा आत्मीयता के साथ दर्ज किया है। इसलिए इन लेखों को पढ़ते हुए भारतीय चिंतक तथा मनीषा के विभिन्न सोपानों के अनायास ही दिग्दर्शन हो जाते हैं। कई बार ऐसा भी लगता है कि सैकड़ों भाषाओं में वार्तालाप करता, सैकड़ों विभिन्न जीवन-शैलियों में जीवनयापन करने वाला पूरा भारत सोचता एक ही तरह से है। रंग, रूप, भाषा, धर्म, जातियाँ, संप्रदाय, लिंग, वंश क्या आर्थिक वैषम्य भी भारतीय मानस की इस एकात्मकता को खंडित नहीं कर पाया है। डॉ० तिवारी की बौद्धिक प्रखरता के आलोक तथा ओज से आप्लावित जंग खाई चीजें तथा विस्मृत बातें भी नये संदर्भों में जीवंत हो उठती हैं। इन यात्रा-संस्मरणों के माध्यम से हमें अपनी सांस्कृतिक गरिमा तथा विराटता का सुखद अनुभव होने लगता है। कुछ यात्रा संस्मरण तो पत्र-शैली में हैं जो अपने आप में एक अनूठा प्रयोग है। कथा तथा उपन्यास में तो इस पत्र-शैली का यदा-कदा प्रयोग हुआ है किंतु यात्रा-वृतांत जैसी विधा के लिए इस शैली का उपयोग सर्वाधिक प्रभावपूर्ण बन पड़ा है। इन लेखों में डॉ० तिवारी के गद्यकार की वैचारिक प्रखरता जितनी भाव-प्रवण, आत्मीय तथा करुणा से सराबोर है, ऐसी हिंदी यात्रा-साहित्य में दुर्लभ है।

यह भी आश्चर्य की बात है कि ये यात्रा संस्मरण भारत का कलात्मक एवं वास्तविक चित्र दोनों एक साथ प्रस्तुत करते हैं। जीवन तथा जगत की साधारणता में असाधारण रहस्यों को खोजकर लाने की गवेषणात्मक मेधा ने इन वृत्तांतों को अतीत,

वर्तमान तथा भविष्य की शृंखला में बाँधकर प्रस्तुत किया है। सजग तथा संतुलित दृष्टि से भारत को देखने तथा इसके वास्तविक स्वरूप को दिखाने के प्रयास में रचनाकार ने प्रकृति के दिव्य सौंदर्य का वर्णन किया है तो मानवजनित कुरूपता का भी। इनमें संस्कृति तथा विकृति दोनों एक मंच पर विराजमान हैं। इनमें प्राचीन भारतीय वैभव है तो उत्पीड़न और शोषण भी। सात्त्विक मन की उदारता है तो अंधविश्वास और जड़ता भी। कहने का तात्पर्य यह है कि भारत अपनी संपूर्णता तथा अपूर्णता, अपने वैविध्य और वैचित्र्य के साथ इन संस्मरणों में साँस लेता प्रतीत होता है।

अपनी पुस्तक 'आत्म की धरती' की भूमिका में विश्वनाथ प्रसाद तिवारी स्वयं लिखते हैं- "भारत कोई एक देश नहीं। यह अनेक देशों, अनेक संस्कृतियों, अनेक विचारों का एक महासागर है। इसकी मिट्टी को खुरचते चले जाएँ तो परत-दर-परत, अनंत परतों का एक सिलसिला मिलेगा। एक ओर रेगिस्तान, दूसरी ओर भौतिकता; एक ओर ज्ञान; दूसरी ओर जड़ता। विचित्रताओं और विरोधाभासों का देश है यह। आधा अंधकार में डूबता, आधा प्रकाश में चमकता। रूप-रंग, खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा, बोली-बानी सब अलग-अलग, मगर भीतरी सोच और बनावट एक जैसी।"

लेखक ने अपने कथानुसार सहज ढंग से स्थानों, व्यक्तियों, घटनाक्रमों आदि की अमूल्य जानकारी दी है। उसने विरोधाभासों के भँवर में से प्राचीन इतिहास, संस्कृति, दार्शनिक चिंतन ही नहीं, अपितु लोक मानस के विराट आंतरिक स्वरूप के भी दर्शन करवाए हैं।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की विदेश यात्राओं के वृत्तांत तो और भी रोचक तथा विचारोत्तेजक हैं। अमेरिका तथा यूरोप के कई देशों में तो वे हजारों मील की यात्रा सड़क मार्ग से कर चुके हैं। इसलिए उन्होंने विभिन्न देशों के जन-जीवन को बहुत ही करीब से देखा तथा परखा है। एक संस्कारवान भारतीय मन को साथ लेकर विश्व के विभिन्न देशों की संस्कृतियों तथा उनके जीवन-मूल्यों पर चिंतन करना वास्तव में जोखिम भरा कार्य है, किंतु रचनाकार की उदार भारतीय मानसिकता व दृष्टिकोण ने पाश्चात्य जीवन-शैलियों का भी तटस्थ भाव से विवेचन किया है।

अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा, नीदरलैंड, चीन तथा रूस की यात्राएँ करते हुए उन्होंने अपनी भारतीय व उसके संस्कारों से न ही कभी समझौता किया, न ही विपरीत परिस्थितियों में टकराव जैसी स्थिति बनने दी। जहाँ जो अच्छा है, उसकी भरपूर प्रशंसा की। जहाँ जिस चीज का अभाव है, उसे भी उभारा है। उन्हें इस बात का एहसास है कि यूरोप भारत से भिन्न है। प्रकृति और परिवेश में भी। दोनों की भिन्नता का मूल आधार दोनों की अलग-अलग जीवन दृष्टियाँ हैं।

यह प्रो० तिवारी की आकलन क्षमता का कमाल है कि वे विरोधाभासों में भी संगत के सूत्र ढूँढ़ लेते हैं। अर्थ और काम पर आधारित भौतिकवाद को ही सब कुछ मानने वाली पश्चिमी सभ्यता को अध्यात्म तथा पुरुषार्थ के तराजू में तोलते हुए उसे एकदम से नकार नहीं देते, अपितु भौतिकवाद तथा आध्यात्मिक मूल्य-चेतना को एक दूसरे के पूरक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। विदेशों में भारतीयों के आदरभाव को उन्होंने अपने यात्रा संस्मरणों में पूरी भाव-प्रवणता के साथ उजागर किया है। भारतीयों की कार्यकुशलता तथा कर्मठता ने पूरे विश्व का दिल जीत लिया है। किंतु कुछ भारतीय विदेशी जीवन-शैली को अपनाकर स्वयं की संस्कृति के कटु आलोचक हो गए हैं। यह देखकर लेखक हतप्रभ अवश्य हुआ है। उन्होंने गाँधीजी की अमर पुस्तक 'हिंद स्वराज' के माध्यम से यूरोप की संस्कृति तथा सभ्यता के उस शैतानी चरित्र को व्याख्यायित करने का प्रयास किया है जो स्वेच्छाचारिता की तमाम हदबंदियों को लाँघता हुआ काम और वासना के अँधेरे बीहड़ में जाकर विलीन हो रहा है।

'अतलांत पर से लौटकर' लेख में लेखक ने अमेरिका के बारे में इतनी अधिक जानकारी दी है जैसे सामान्यत: यात्रा संस्मरणों में देखा नहीं जाता। अमेरिका की अर्थव्यवस्था से लेकर सामाजिक ताने-बाने का विस्तार से जिक्र करते हैं। लेखक के ये शब्द 'हिंसा न केवल कमजोर को बल्कि ताकतवर को भी डराती है' इस महाशक्ति के मन में बसे घनीभूत भय तथा असुरक्षा की भावना को गहरे से स्पष्ट करता है। न्यूयॉर्क शहर के रख-रखाव, नगर-संयोजन, स्वच्छता, गगनचुंबी अट्टालिकाओं, हडसन तथा ईस्ट रिवर के दृश्यों से रचनाकार प्रभावित तो है किंतु उसका भारतीय मन पाश्चात्य चमक-दमक से आक्रांत कतई नहीं। उसे दिव्य सौंदर्य तथा भौतिक सौंदर्य की विभाजक रेखा का बहुत अच्छे से बोध है। वह भोग की संस्कृति के तमाम अदृश्य रोगों की ओर भी इशारा करता हुआ चलता है। इस वृत्तांत में यूरोप में साहित्य के प्रति प्रतिबद्धता तथा लगाव के बारे में बताते हुए वह अपने यहाँ के उपेक्षा भाव को भी दर्शाता है। लंदन में उसका सबसे प्रिय स्थल शेक्सपियर का घर तथा संग्रहालय है। सफाई-समयबद्धता तथा अनुशासन-प्रियता को लंदनवासियों की विशेषता स्वीकारते हुए लेखक उनके स्वतंत्रता के सिद्धांत की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। दुनिया के तमाम विद्रोही लेखकों, कलाकारों तथा विद्वानों की स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखने में लंदन की ऐतिहासिक भूमिका को दर्ज करते हुए लेखक ने एक और बड़े विरोधाभास की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। ऐसे स्वतंत्रता-प्रेमी देश ने अनेक राष्ट्रों को परतंत्र बनाकर उपनिवेश क्यों स्थापित किए, लेखक का यह प्रश्न बहुत देर तक पाठकों को विचलित करता रहता है।

नीदरलैंड के यात्रा संस्मरण तथा स्वतंत्रता-प्रेमी नगर अम्स्टर्डम के संपूर्ण ऐतिहासिक विकास का वर्णन करते हुए डॉ० तिवारी नीदरलैंड के लोगों के जनजीवन के अंदर तक पहुँचकर उसका विश्लेषण करने लगते हैं। सेक्स का अतिरेक उन्हें खिन्न करता है।

नग्नतम तस्वीरें शृंगार की अपेक्षा घृणा का भाव अधिक उत्पन्न करती हैं। यूरोप ने 'स्वतंत्रता' तथा 'समानता' दोनों शब्दों को खतरनाक बना दिया है। भारतीय दृष्टिकोण धर्म तथा नैतिकता को भोग से अधिक स्वीकार्य तथा महत्वपूर्ण मानता है। अनियंत्रित भोग-विलास की उस प्रवृत्ति को देखकर उन्होंने महात्मा गाँधी की पुस्तक 'हिंद स्वराज' को उद्धृत किया है- "सभ्यता वह है जिसके द्वारा हम समाज के प्रति अपना फर्ज अदा करते हैं। फर्ज अदा करना अथवा नीति का पालन करना। नीति का पालन अर्थात् इंद्रियों को वश में रखना। यही सभ्यता है, बाकी सब असभ्यता।"

गाँधीजी के इस निष्कर्ष पर पाश्चत्य दृष्टिकोण को परखते हुए उन्होंने मौलिक चिंतन का परिचय दिया है। यूरोप के लोगों का अकेलापन तथा मनुष्य की नियति को विश्लेषित करते हुए लेखक पाठकों की चेतना को कई बार झकझोरता है। निस्संदेह वह यूरोप के प्रशासनतंत्र तथा आर्थिक विकास का तो प्रशंसक है किंतु यांत्रिकी प्रगति में मनुष्य का संवेदनशून्य होना उन्हें अखरता है। इसीलिए चरम यांत्रिक शहर न्यूयॉक में मानवचालित रिक्शा को देखकर उसे सुखद आश्चर्य होता है तो कनाडा में मेपल वृक्ष की लाल रंग की अद्‌भुत आभा उसे आह्लाद से परिपूर्ण कर देती है। वह यूरोप की साहित्यिक प्रगति एवं बौद्धिक प्रखरता का हामी तो है किंतु साहित्य से मनुष्यता के निष्कासन को स्वीकार नहीं करता।

यूरोप के इन देशों के अतिरिक्त घोर साम्यवादी राष्ट्र रूस तथा चीन के संस्मरण और भी बेजोड़ हैं। लेखक की दृष्टि उस व्यवस्था के लौह-कवच को भेदकर उनके अमानवीय कृत्यों को भी सामने लाने में समर्थ रही है। रूस तथा पीट्‌सबर्ग का वर्णन तो अतुलनीय है। रूस की क्रांति से पहले तथा उसके पश्चात् की सिलसिलेवार घटनाएँ हमें बहुत कुछ नया जानने का अवसर प्रदान करती हैं। लेखक जहाँ उनके स्मारकों तथा नगर-योजना के अद्‌भुत नमूनों का वर्णन करता है, वहीं साम्यवादी व्यवस्था में लेखकीय अस्मिता को बचाने के घोर संघर्ष को भी अँधेरी गुफाओं से निकालकर हमारे सामने रखता है। इसी प्रकार चीन की अभेद्य दीवारों के पीछे छिपे अनेक रहस्य तथा रोमांचकारी बातें इन पृष्ठों पर बिखरी पड़ी हैं।

अस्तु, अब और विमर्श तथा विलंब किए बिना आइए, हम भी देश-विदेश की इन यात्राओं से अपने अनुभव संसार को समृद्ध करें। संसार के वैविध्य एवं वैचित्र्य की सैकड़ों छवियों से तनावमुक्त होकर वसुधैव कुटुंबकम की परिकल्पना को साकार करने में अपना सार्थक योगदान दें।

❑❑❑

मानव कौशिक, 1110, सेक्टर-41 बी, चंडीगढ़

निजता का घेरा

ओम निश्चल

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की डायरी 'दिन रैन' एक अध्यापक, लेखक, आलोचक और संपादक की डायरी है। इसमें 1968 से लेकर 2013 तक की घटनाएँ दर्ज हैं। इसमें लेखक का स्वभाव तो बोलता ही है, साहित्य, समाज, राजनीति, यात्राओं, गोष्ठियों, पुस्तकों, लेखकीय बतकहियों के अनेक व्योरे भी दर्ज हैं।

उत्सुकता के कई कारण होते हैं। डायरी लेखक अगर साहित्यकार है तो उसने अपने समकालीनों पर क्या लिखा है, यह दिलचस्पी का विषय होता है। डायरी के इंदराज भले लेखक की ईमानदारी का परिचायक माने जाते हों, पर इन्हीं शब्दों से अपनी छवि को सलीके से पेश करने की कोशिशें भी होती हैं। हाँ, डायरी लेखक से यह अपेक्षा जरूर की जाती है कि वह अपने समय और समकालीनों पर निर्भीक टिप्पणियाँ करे। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने इसमें अपने संपर्कों, उनसे हुई बातचीत के प्रसंगों को उद्घाटित किया है। उनका मानना है कि चाहे कुछ विवादास्पद ही क्यों न हों, पर निजी संवाद के दौरान दूसरों की कही बातें भी सामने आनी चाहिए, जो साहित्य के इतिहास के लिए जरूरी है।

तिवारीजी का मन जिन लेखकों को मानता है उन्हें अपने संबंधों के पवित्र और मजबूत धागे से बांध कर रखता है। बीस बरस के साहचर्य में रहे अज्ञेय का निधन हुआ तो वे गोरखपुर से दिल्ली आए और धधकती चिता को देखकर लिखा: 'तेज हवा में चिता धधक रही थी और अपने समय की न केवल एक बड़ी रचनात्मक प्रतिभा, बल्कि एक अत्यंत सुंदर काया भी जल रही थी।'

भारतीयतावादी, मानवतावादी लेखक के रूप में तिवारी ने अपने लेखन में बराबर एक संतुलन बनाने की कोशिश की है। यह डायरी उनकी साधारणता का बयान भी है और उनकी लेखकीय ईमानदारी का परिचायक भी। इस डायरी में वे नीति, अनीति, सत्य और धर्म के स्वरूप पर विचार करते हैं तो इस बात पर भी कि 'काम, क्रोध, मद और लोभ से जो जितना मुक्त होता है, यथार्थ और सत्य के उतने ही अंश को

देख पाता है।' कविता से तो तिवारी का सर्वोपरि लगाव है। एक जगह वे कहते है, 'समय के साथ भाषा घिसती है, शब्दों से अर्थ की सुगंध उड़ जाती है, उसका रंग धूमिल हो जाता है, तब कवि फिर से रंग भरता है, महक पैदा करता है।'

एक दिन तिवारीजी को किताबों की झाड़पोंछ में अचानक रेणु का एक वाक्य लिखा पन्ना मिलता है, जिसमें उन्होंने कहा था, 'मैं व्याकरण के नियम नहीं बता सकता, लेकिन यह बता सकता हूँ कि हिरामन की पीठ में गुदगुदी क्यों होती हैं।' इस वाक्य के सहारे वे भाषा और अभिव्यक्ति की बारीकियों को जलती हुई मोमबत्ती के रूप में देखते हैं।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में वे यह संदर्भ उद्धृत करते हुए कि अगर निशाचर अचानक आकर तुम्हें धर दबाए और अपने बाएँ हाथ में तुम्हारी स्वामिनी और दाएं हाथ में महावराह की मूर्ति को लेकर बोले कि तू प्राण देकर किस एक को बचाना चाहेगा तो जैसे बाणभट्ट ने कहा था कि मैं प्राण देकर भट्टिनी को बचना चाहूँगा, वैसे ही आपद्धर्म में मैं प्रकाशित डायरियों को बचाना चाहूँगा। वे कहते हैं, शायद ये मृत्यु के विरुद्ध मेरे घोषणापत्र हैं।

नैतिक आग्रह तिवारीजी का हर समय पीछा करते हैं। लेखकों के व्यक्तिगत आचरण उन्हें ठीक नहीं लगते। फिराक गोरखपुरी के सार्वजनिक अभिनंदन के सिलसिले में वे फिराक की परित्यक्ता पत्नी किशोरी देवी के संदर्भ में ऐसा ही सोचते हैं। मार्क्सवादी विचलनों के बारे में तिवारीजी ने गहन शोध किया है। उनकी पुस्तक 'आलोचना के हाशिये पर' में तो इस पर एक लगभग साठ पेज का लेख ही है, जिसका ठीक-ठीक प्रत्युत्तर शायद अभी तक किसी ने नहीं दिया है। इस डायरी में भी वे सोल्झेनित्सीन की किताब 'गुलाग दीप समूह' में दर्ज तमाम घटनाओं के जरिए स्तालिन-कालीन रूस के आतंक की झलक प्रस्तुत करते हैं कि कैसे एक बार स्तालिन की प्रशंसा में जारी प्रस्ताव पर थक जाने के कारण तालियाँ बजाना बंद कर देने भर से एक शख्स को दस वर्ष के लिए कैद में डाल दिया गया था।

गोरखपुर उनके व्यक्तित्व की कर्मभूमि है। कितनी ही यादें यहाँ इस शहर की दर्ज हैं। अज्ञेय कैसे एक बार एक ब्रीफकेस लिए दरवाजे पर आ खड़े हुए, कैसे वे किसी ताल की खोज में पक्षियों से मिलने गए, इसका एक रोचक वृत्तांत यहाँ है। पर जहाँ अज्ञेय का यह वत्सल रूप है वहीं उनकी जिद भी कम उल्लेखनीय नहीं, जिसके चलते वे बरसों भारत भवन नहीं गए, पर जब समवाय की आलोचक त्रैवार्षिकी में गए तो पूरे आयोजन में छाए रहे कि स्वयं नामवरजी बार-बार उन्हें ही उद्धृत करते हुए अपना वक्तव्य देते रहे।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का कवि-मन इन डायरियों में खुलता है। अपने कवित को लेकर उनके मन में कोई भ्रम नहीं है। बीच-बीच में उनकी आरा मशीन और माँ पर

लिखी कविता शृंखला की चर्चा भी है। तमाम लेखकों ने इन कविताओं को महत्त्व के साथ आँका है। पर वे जानते हैं एक कवि के रूप में हिन्दी संसार उन्हें कहाँ रख कर देखता है। तभी वे कहते हैं: मेरी कविताएँ दुनिया को बदल देने के आग्रह से पैदा नहीं हैं। वे तो मेरे ही राग-विराग की संतानें हैं।' अपनी स्त्री विषयक कविताओं में वे पाते हैं कि परिवार की स्त्रियाँ ही किसी न किसी रूप में मूर्त हुई हैं। वे कहते हैं कि 'मेरी कविताओं में यथार्थ, परंपरा, विद्रोह, प्रकृति या प्रेम-किसी को कुछ न मिले, पर मैं तो यही कहता हूँ कि उनमें मैं ही हूँ, अनेक रूपों में।'

डायरियों में उनका आलोचक भी मुखर होता है। 'पूर्वग्रह' के एक अंक को देख कर वे लिखते हैं, 'अंक स्तरीय नहीं लगा। स्वयं वाजपेयी की भाषा तो धारदार और स्पष्ट होती है, पर उनके चेले-चाटी स्वादहीन जलेबी बनाते हैं।' तिवारीजी का ब्राह्मणत्व आहत होता है तो वह इन शब्दों में प्रकट होता है: 'यह देख कर कितना विडंबनापूर्ण लगता है कि यह जो लेखक नाम का प्राणी अभी थोड़ी देर पहले करुणा और लोकमंगल की वकालत कर रहा था, किस तन्मयता के साथ मुर्गे और बकरे का मांस चूस रहा है।' उन्हें ऐसे वक्त गाँधीजी का कथन याद आता है: 'स्वाद का संबंध मन से होता है। जिस मन में करुणा है, वह मांसाहारी नहीं हो सकता।'

तिवारीजी का मन जिस लेखकों को मानता है उन्हें अपने संबंधों के पवित्र और मजबूत धागे से बांध कर रखता है। बीस बरस के साहचर्य में रहे अज्ञेय का निधन हुआ तो वे गोरखपुर से दिल्ली आए और धधकती चिता को देखकर लिखा: 'तेज हवा में चिता धधक रही है थी और अपने समय की न केवल एक बड़ी रचनात्मक प्रतिभा, बल्कि एक अत्यंत सुंदर काया भी जल रही थी।'

डायरी में गोरखपुर के इंदराज ज्यादा हैं। वही उनका बुनियादी ठीया है। बीच-बीच में यात्राओं-पड़ावों के स्थल भी हैं। भेड़िहारी भी, जिस गाँव में वे पैदा हुए। आज भी खेतीबारी होती है। इस तरह वे गाँव से शहर, महानगर धांगते रहते हैं, जैसे यह जीवन भी एक यात्रा का पड़ाव ही हो। राजनीति से कौन भला सुखी होता है? सो तिवारीजी भी इससे दुखी रहते हैं जिसने गाँव के साफ चित्त पर दलबंदी की खरोंचे डाल दी हैं। एक मानवाधिकार संगोष्ठी में से नामवरजी का कहा उद्धृत करते हैं: 'विचारधारा भी शत्रु हो जाती है। बल्कि वह भी शत्रु ही है। मार्क्स खुद भी विचारधारा के विरोधी थे। वे मार्क्सवादी शब्द से चिढ़ते थे।'

बाजार के प्रवाह में लेखक भी बह जाते हैं, अगर पैसा मिले तो। ऐसा ही एक उदाहरण तिवारीजी ने सुनील गंगोपाध्याय का दिया है कि कैसे कोलकाता में सरसों तेल के एक विज्ञापन: 'एक बंगाली की आँखों में आँसू क्यों' में सुनील गंगोपाध्याय की छवि का इस्तेमाल किया गया था। पर यह इस लिहाज से लक्ष्य है कि जहाँ पूरे देश में लेखकों

को कोई नहीं पूछता, एक राज्य में एक लेखक की ऐसी छवि तो है कि वह सार्वजनिक विज्ञापन का हिस्सा बन सके। डायरी के आखिरी हिस्से में उनके अकादेमी का उपाध्यक्ष और फिर अध्यक्ष होने के प्रसंग हैं। इसमें एक अदृश्य संयोग भी सहभागी रहा है कि इस बीच अकादेमी के उपाध्यक्ष सतिंदर सिंह नूर और बाद में अध्यक्ष सुनील गंगोपाध्याय के निधन से इन पदों पर उनके चयन का मार्ग प्रशस्त होता गया। पर नियति ने ही उनके लिए लाल कालीन बिछा दिए हों तो ज्यादा जद्दोजहद नहीं करनी पड़ती। पर चयन के लिए संख्याबल तो चाहिए ही और उस मतिर्भिन्न लेखक समुदाय से, जिसे सहजता से सहमत कर पाना कठिन होता है। वे लिखते हैं, 'कितना तकलीफदेह लगता है किसी से अपने लिए वोट मांगना।' उन्हीं दिनों भानु भारती निर्देशित नाटक 'तुगलक' देखने का असर ऐसा कि वे खुद को ही तुगलक के रूप में देखने लगते हैं। 'मुझे लग रहा था मैं ही तुगलक हूँ। मेरे ही विरुद्ध षड्यंत्र-जाल बुना जा रहा है। .... क्या ये मेरी महत्त्वाकांक्षा का दलदल नहीं है। कितना सुखी था मैं अपने छोटे से शहर के छोटे से कमरे में। कितनी भयानक है दिल्ली।'

अंगरेजीपरस्त अकादेमी में एक हिन्दी अध्यापक के लिए कानाफूसियाँ भी हुईं कि वह अंगरेजी नहीं बोल सकता। पर अंततः चयन उनका ही हुआ। गुजरा हुआ वक्त याद आता है; जब दिल्ली की बसों पर लटक कर वे अकादेमी आते थे; आज वे इस अकादेमी के सर्वोच्च पद पर हैं।

यह डायरी गोरखपुर से शुरू होती है और समाप्त भी वहीं होती है, जिसका आखिरी वाक्य है: कर्म कभी निष्फल नहीं होता। अपने सादा लिबास और कस्बाई चेहरे से सौम्य लगने वाले विश्वनाथ तिवारी की यह डायरी न तो आत्ममुग्धता में कैद है न अपने 'आत्म' को सर्वथा विरत रख कर चलती है।

❑❑❑

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की कविता

अरविन्द त्रिपाठी

"सहसा विश्वास नहीं हुआ/जब उस दिन अचानक/ सामने खड़ा हो गया सत्य/कटा-फटा/क्षत-विक्षत/रंग-बदरंग/हायराम, जिसे मैं समझता था बहुत महान/बहुत दुर्लभ/बहुत सुन्दर/वह तो बहुत-बहुत साधारण था/धूल सने पाँव/जंग लगे लोहे सी देह/नुनछाई दीवार की तरह कपड़े/ढ़का नहीं हूँ मैं हिरण्यमय पात्र में/कहा उसने/तीर्थों में, पूज्य ग्रंथों में बंधा नहीं हूँ/जहाँ देखोगे वहीं दिखूँगा/जहाँ से देखोगे वैसा ही दिखूँगा/अभिशप्त हूँ मैं युगों-युगों से/जिसके पास जाता हूँ/वही कर देता है खण्डित/चाहे मर्यादा पुरुषोत्तम हों या धर्मराज/या हों परात्पर वासुदेव/धर्म पाप कहते हैं मुझे/समाज कहता है अश्लील/न्यायमूर्ति अपराध कहते हैं/राजा कहता है देशद्रोही/भारी कदमों से चला जा रहा था वह/खनाबदोशों के डेरों की ओर" ..... (सत्य, फिर भी कुछ रह जायेगा, पृ०-34)।

समकालीन कविता के संसार में, सातवें दशक के दौर में उभरे कवियों में विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की कविता की उपस्थिति एक 'अवघटघाट' के कवि के रूप में प्रकट होती है। एक ऐसे कवि की उपस्थिति जिसने 'कवियों की बसुंधरा' में भेड़चाल की परम्परा का निषेध किया। काव्यनुभूति से लेकर काव्याभिव्यक्ति तक। विश्वनाथ जी के चालीस वर्षों से ऊपर के सक्रिय कवि-काल के सफर को देखते हुए आज यह बात कही जा सकती है कि अपने समकालीनों के बीच रहते हुए भी उन्होंने अपने समकालीनों का अतिक्रमण किया। खास तौर से सातवें दशक में घूमिल की पीढ़ी ने यह मान लिया था कि बिना गोला-बारूद के कविता संभव नहीं। उस दौर में कवि-समाज क्रांतिकारी कविता

कालान्तर में उन्हें अज्ञेय स्कूल का कवि मान लिया गया। विश्वनाथ जी की कविता को अज्ञेय-परम्परा की कविता से इस कदर नत्थी कर दिया कि उसे अलग से देखने की ज़हमत ही नहीं उठायी गई। जबकि जागरूक पाठक गौर करेंगे कि विश्वनाथ अज्ञेय से प्रभावित भले रहे हों पर अज्ञेय काव्य का कोई अवशेष उनकी कविता में शामिल नहीं है।

लिखने में इतनी मशगूल था कि उन्हें इल्हाम हो चुका था कि क्रांति दरवाजे पर खड़ी है लिहाजा कविता फौरी तौर पर महज दर्जन भर शब्दों से लिखी जा सकती है। क्रांतिकारी कविता के इतिहास में क्रांति की ऐसी हड़बड़ी तो पराधीन भारत के दौर में भी नहीं दिखायी देती।

कविता के ऐसे दौर में विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का काव्य-प्रवेश उनके कवि-स्वभाव के नाते काफी जद्दोजेहद से भरा हुआ था। मुँहफट कविता के उस दौर में उनकी कविता बोलती कम और कहती ज्यादा है। अपनी पीढ़ी के वे उन कवियों में शुमार हैं जिनके मितकथन और मितभाषा के प्रयोग सघन और ताकतवर हैं, जो आज उनकी काव्योपलब्धि के रूप में रेखांकित की जा सकती है। पर उस दौर में 'मितकथन' और 'मितभाष' के प्रयोग बेजा माने गये। ऐसे में विश्वनाथ प्रसाद तिवारी सरीखे कवि हाशिये पर डाल दिये गये। कविता के उस दौर में 'टेंपर' एक जरूरी बैरोमीटर था। मानो जिस कवि की कविता में जितना उच्च रक्तचाप होगा वह उतना ही बड़ा क्रांतिकारी कवि होगा। घूमिल उस दौर में इस तरह की कविता के प्रतिमान-पुरुष थे। कहना न होगा कि उस दौर की कविता में घूमिल की नकल सबसे ज्यादा हुई। जगूड़ी से लेकर कुमार विकल तक। पर आज घूमिल की कविताएँ खुद उन्हीं की काव्यपंक्तियों में 'एक बौखलाये हुए आदमी का संक्षिप्त एकालाप' लगती हैं। बौखलाहट या तनाव में कुछ महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय कविताएँ तो लिखी जा सकती हैं पर बड़ी और महान रचना का सृजन संभव नहीं। कविता जीवन और समाज में एकतरफा कार्यवाही नहीं, बल्कि साधारणजीवन में असाधारण जीवन की खोज है। साधारण दिखते आदमी के भीतर छिपे असाधारणत्व की शिनाख्त है। आज के समय में एक सच्चे और खरे कवि की बुनियादी चिंता का केन्द्रीय विषय यही है।

हाशिये पर डालने की दूसरी वजह अज्ञेय के साथ विश्वनाथ का जुड़ाव प्रमुख रहा है। कालान्तर में उन्हें अज्ञेय स्कूल का कवि मान लिया गया। विश्वनाथ जी की कविता को अज्ञेय-परम्परा की कविता से इस कदर नत्थी कर दिया कि उसे अलग से देखने की ज़हमत ही नहीं उठायी गई। जबकि जागरूक पाठक गौर करेंगे कि विश्वनाथ अज्ञेय से प्रभावित भले रहे हों पर अज्ञेय काव्य का कोई अवशेष उनकी कविता में शामिल नहीं है। उनकी कविता में न तो अज्ञेय का 'व्याक्तिवाद' बोलता है और न अभिव्यक्ति में अमूर्तन शैली की ईज़ाद मिलती हैं। बल्कि विश्वनाथ की कविता बुनियादी रूप से सामाजिक कर्म की कविता है। जिसकी जड़ें भारतीय समाज, संस्कृति और इतिहास में गहरे स्तर पर धँसी हुई है। इस देश का साधारण आदमी ही उनकी कविता का नायक है जो समाज संस्कृति और इतिहास के परिसर से सदियों से बेदखल है।

इस कड़ी में तीसरी बड़ी वजह मार्क्सवादी विचारधारा से उनकी चिरपरिचित असहमतियाँ हैं जिसके चलते वे समकालीन कविता के जनपथ पर 'साथ चलते हुए' भी सहचर नहीं बन सके। पिछली अर्द्धशती की कविता में ऐसे कई महत्त्वपूर्ण कवि लम्बे

अरसे से रचनारत रहे हैं और आज भी सृजनरत हैं जिन्हें हाशिये पर चुपचाप डाल कविता की पतली आसान गली से निकलने और निकालने की कोशिशें की गई। आठवें दशक की कविता के दौर में आलोचना मित्रभाव और शत्रुभाव में तब्दील हो गयी। दिलचस्प तथ्य यह है कि इसे विकसित करने से आलोचकों के बजाय खुद कवियों ने इस काम को बखूबी अंजाम दिया। आलोचना के नाम पर मित्र-शत्रु भाव इस कदर परवान चढ़ा कि 'आई०टी०ओ० पुल' के अलावा हिन्दी कविता के परिक्षेत्र में कोई और महत्त्वपूर्ण कवि नहीं है। अशोक वाजपेयी ने शायद इसी मनोवृत्ति से खीझकर 'आलोचना की दबंगई' शीर्षक लेख लिख डाला था।

कविता के ऐसे परिदृश्य में विश्वनाथ सरीखे कवियों का रास्ता आसान नहीं था। आज की कविता के परिदृश्य में हाशिये पर डाल दिये गये ऐसे दर्जन भर महत्त्वपूर्ण हैं जिन्हें जानबूझकर 'जाज़िम' के नीचे डालकर चहलकदमी की जा रही है। साठोत्तरी कविता के त्रयी रघुवीर, श्रीकांत और सर्वेश्वर में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता को तो जैसे कविता के संसार से ही बेदखल कर दिया गया है। क्या वाकई कोई बता सकता है कि सर्वेश्वर इतने मामूली कवि हैं जिन्हें मरने के साथ ही विदा कर दिया गया। इस प्रसंग में विश्वनाथ जी की एक बुनियादी मुश्किल है कि वे कवि के साथ-साथ आलोचक हैं और मेरी निगाह में उनका आलोचक उनके कवि के बरअक्स कमतर नहीं है। यह दूसरी बात है कि वे अपने को मूलतः और अंततः कवि के रूप में ही मानते हैं। एक लेखक को कविता और आलोचना की सवारी एक दूसरे पर चढ़ने की ओर मजबूर करती है और कई बार पटकने की कोशिश भी करती है। विधाओं की पटकनी से लहलुहान केवल विश्वनाथ ही नहीं हैं। पूरवर्ती कवियों में देखें तो मुक्तिबोध, साही, श्रीकांत, कुँवर नारायण, अशोक वाजपेयी, मलयज को आलोचना के हलके में कवि माना जाता है और कविता के हलके में आलोचक, पर मेरी निगाह में एक कवि का मूल्यांकन उसकी कविता के आधार पर ही किया जाना चाहिए। आलोचकीय व्याक्तित्व के प्रतिमानों पर नहीं। नयी कविता के दौर में साही जितने महत्त्वपूर्ण आलोचक हैं उतने ही महत्त्वपूर्ण कवि भी। जीवन के सायंकाल में लिखा साही का 'साखी' संग्रह उनके समकालीन कवियों पर भारी साबित हुआ था।

इस निगाह में देखें तो विश्वनाथ के साहित्य कर्म में उनकी महत्त्वपूर्ण आलोचना की वैचारिकी पुस्तक 'नये साहित्य का तर्कशास्त्र' जो उनके युवा-दिनों की उपज है, उनकी कविताओं पर भारी पड़ती है। विश्वनाथ के साहित्य के संदर्भ यह विचार मननीय है कि 'साहित्य समाज की सबसे अधिक वैयक्तिक और व्यक्ति की सबसे अधिक सामाजिक क्रिया है'। (रचना के सरोकार, पृ०-64) एक दूसरी जगह वे लिखते हैं 'रचना एक सक्रिय सचेतन प्रक्रिया है, निष्क्रिय दस्तावेज नहीं'। (वही, पृ०-31)। इन दोनों उद्धरणों को सामने रखकर उनकी कविता के सरोकारों को समझा जा सकता है। पहली बात तो यह साफ हो जानी चाहिए कि गैर मार्क्सवादी होना जनविरोधी होना नहीं है। जबकि

अनेक हार्डलाइनर मार्क्सवादी गैर मार्क्सवादियों को जनविरोधी या विपक्षी दल का ही मानते हैं। पर अगर ऐसा सच है तो फिर साही और रेणु क्या जनविरोधी थे? जाहिर है ऐसे सवालों के जवाब हार्डलाइनरों के पास नहीं है।

मेरी दृष्टि में साहित्य के लिए विचारधारा से भी बड़ी चीज है- जीवन दृष्टि। किसी रचनाकार के मूल्यांकन का आधार उसकी विचारधारा के साथ-साथ रचना से उसकी जीवनदृष्टि की तहकीकात की जानी चाहिए। देखना यह चाहिए कि रचना के सरोकारों से जीवनबोध की सकारात्मक वृत्तियाँ जागृत हैं अथवा नहीं। उसकी कविता किसके पक्ष में हलफ उठा रही है? समाज में उसकी कविता किसके साथ खड़ी है? अगर उसकी कविता प्रभुवर्ग की 'सुखशैया' बन रही है तो वाकई वह जनविरोधी है। ऐसी रचना स्वीकार्य नहीं हो सकती। लेकिन किसी कवि की कविता अगर समाज और जीवन में वंचितों की आवाज उठा रही है, लोकतांत्रिक मूल्यों में विश्वास रखती है तो ऐसी रचना निश्चय ही उपादेय होगी। एक पाठक-आलोचक के लोचन का लेंस चारों तरफ घूमना चाहिए तभी वह रचना की तफ़सील से पैमाइश कर जीवन मूल्यों को तस्दीक कर सकता है।

विश्वनाथ के कविकर्म के सरोकारों की गहरी छानबीन की जाय तो उसके मूल में तीन प्रस्थान बिन्दु चिन्हित होते हैं- स्वाधीनता, स्त्री मुक्ति और मृत्युबोध। गौर से देखें तो उनकी समूची काव्य यात्रा इन तीन प्रस्थान बिन्दुओं को लेकर गहरी छानबीन करती है। उल्लेखनीय है कि इन तीनों जीवन दृष्टियों का बोध वे भारतीय अंत:करण से करते है। भारतीय अंत:कारण में आत्मा की गवाही को सबसे अधिक मूल्यवान, न्यायप्रिय माना गया है। 'स्वतंत्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' यह वाक्य केवल पराधीन भारत के आंदोलन का नारा भर नहीं है बल्कि यह समूची मानव प्रजाति के जीवन की बुनियादी शर्त है। जैसे हर मनुष्य को जीने के लिए साँस लेने का नैसर्गिक अधिकार है उसी जीवन को जीने के लिए स्वाधीनता एक अनिवार्य जीवनबोध है जिसके बिना जीवन व्यर्थ है। ज्याँ पॉल सात्र ने कहा था कि 'हर मनुष्य अपनी नियति खुद चुनता है। उसे क्या करना है, क्या बनना है, यह चुनने का हक खुद उसे होना चाहिए, दूसरों को नहीं। इस निगाह से देखें तो विश्वनाथ के काव्यपट के प्रस्थान बिन्दु में 'स्वाधीनता' की तड़प बेहिसाब और बेशुमार है। कई बार यह 'तड़प' भय और दहशत से भरा लगता है।

स्वाधीनता के इस बोध को उनके आरांभिक काव्य संग्रह 'चीजों को देखकर' (1970) और साथ चलते हुए (1976) को पढ़ते हुए यह अहसास किया जा सकता है कि कवि में मनुष्य की स्वाधीनता के लिए कितना गहरा आक्रोश है। सन् 1971 में बाग्लादेश मुक्ति-संग्राम और सन् 1975 में देश में आपातकाल की अचानक घोषणा ने जिस तरह भारतीय समाज और बौद्धिक वर्ग को उद्वेलित कर दिया था उससे किसी भी जागरूक कवि का बच पाना नामुमकिन था। उस दौर में जंगल और उसमें वास करनेवाले हिंस्र और निरीह जानवरों, पशुओं को प्रतीक बनाकर कवि ने और अभिव्यक्ति की आजादी

को लेकर ढ़ेरों कविताएँ लिखी हैं। मुक्ति की आकांक्षी इन कविताओं में दुख है शायद इसलिए कि कविता की केन्द्रीय थीम मुक्ति की आकांक्षा और उसका स्वप्न है। इन कविताओं में कवि की भाषा आक्रामक और तलखी से भरी हुई है। कवि का लहजा दो टूक है- मैंने देखा है तुम्हारा कानून/किताबों में पढ़ा नहीं/लोगों की आँखों में देखा है/हारा, थका, बूढ़ा कानून/जो थानेदार की डायरी से अधिक प्रामाणिक नहीं" (तुम्हारा कानूनः चीजों को देखकर, पृ०-22)। वे हत्या पर उतारू हैं/अंधकार को छेद रही हैं संगीनें/सधे हुए खूनी पंजे/टटोल रहे हैं आदमी की गर्दन/हत्यारों की जाति एक ही है/और उनका जवाब नहीं/जो गर्दन भी टटोलते हैं/जेब भी/लेकिन चारों ओर से घिरा हुआ/आहत आदमी/अभी पराजित नहीं हुआ/वह लड़ रहा है/सभी मोर्चों पर एक साथ/अन्दर विश्वासघातियों से/और बाहर हत्यारों से/और चारों ओर गरहे काले अंतरिक्ष से/उसे विश्वास है/एक दिन गोली बनाने वाले कारखाने/नींद की गोली बनाना शुरू करेंगे/और हत्यारे जो आज दाग रहे हैं गोलियाँ/एक दिन नींद की गोलियां खाकर आत्महत्या कर लेंगे" (लड़ता हुआ आदमी (मार्टिन लूथर किंग के लिए) चीजों को देखकर, पृ०-76-77)। आपातकाल के दौर में सत्ता ने जिस तरह जनतांत्रिक विचारों का गलाघोंटा, अभिव्यक्ति की आजादी पर सड़क से लेकर जन माध्यमों तक जिस तरह पावंदियाँ लगा दी, बौद्धिकों, लेखकों, समाजकर्मियों और सत्ता का विरोध करने वाले नेताओं को जेलों में ठूँस दिया, इन सारी जनविरोधी कार्यवाहियों ने कवि की संवेदना को विद्रोह में बदल दिया। विश्वनाथ की उस दौर में लिखी यह कविता आज आपातकाल की याद ही नहीं दिलाती, बल्कि जनमानस को आगाह करती हैं कि कभी भी व्यवस्थाएँ आपातकाल की घोषणा कर नागरिक अधिकारों को छीन सकती हैं। लोकतंत्र को तानाशाही में बदल सकती हैं- "कैसे टूटेगा यह सन्नाटा/जो एक भयानक तूफान के बाद/हमारे चेहरों पर उतर आया है/सुरंगों में घिर गये हैं सहयात्री/खामोश हो गयी हैं मंदिरों की घंटियाँ/एक हाथी मरा पड़ा है न्यायालय के कटघरे में/बाहर कोई पत्ता तक नहीं हिलता/केवल अंधेरा है/जो आहिस्ते-आहिस्ते/फैलता जा रहा है कमरे में/और बाहर रेतीले तट पर/जहाँ शिथिल हो गया है सागर/और हवाओं में चीखने की ताकत नहीं रह गयी है" (यह सन्नाटाः साथ चले हुए, 1976)। कल की लड़ाई के लिए आगाह करते हुए कवि आह्वान करता है- "अभी तो लड़ाई शुरू हुई है/आगे कुछ भी हो सकता है/अपने ही हथियारों के विरुद्ध भी/लड़ना पड़ सकता है" (कल की लड़ाई के लिएः वही पृ०-45)।

याद करिये मुक्तिबोध ने 'अंधेरे में' कविता ठीक आजादी के कुछ वक्त बाद ही लिखी थी। उस कविता में आजादी के बाहर का अंधेरा ही नहीं, बल्कि आनेवाले कल के अंधेरे समय (आपातकाल, 1975) का भी पूर्वाभास है। विश्वनाथ की कविताओं में 'अंधेरे' का जिक्र बार-बार आता है। जाहिर है यह व्यक्ति का अंधेरा नहीं, बल्कि समाज, व्यवस्था और इतिहास का अंधेरा है, जिससे संघर्ष करते हुए कवि मुक्ति चाहता है- 'कुछ करो/कोशिश करो/कोशिश करो/एक बेहतर दुनिया बनाने की' (साथ चलते हुए, पृ०-20)। 'अंधेरा' के समान्तर कवि की अधिकांश कविताओं में 'आतंक' की छाया शुरू से लेकर

अब तक की कविताओं में व्याप्त है। मनोवैज्ञानिक रूप से आतंक के पीछे 'असुरक्षा' का भाव होता है। विश्वनाथ के समकालीन परमानंदी श्रीवास्तव निष्कर्ष निकालते हैं कि 'विश्वनाथ प्रसाद तिवारी निरंतर आतंकग्रस्त हैं। वे किसी महान मूल्य के लिए अपना सबकुछ खो देने को तैयार हैं, पर संघर्ष की हिम्मत खोजते कम दिखायी पड़ते हैं'। (समकालीन भारतीय साहित्य: अंक-25, पृ०-194)।

गौर किया जाय तो यह भय और आंतक कवि का निजी नहीं है, बल्कि सार्वजनिक जीवन का सच है। आजादी मिलने के बावजूद आज भी ग्रामीण समाज के लोगों पर व्यवस्था का कितना बड़ा खौफ़ है जो पैंसठ सालों बाद भी काम नहीं हुआ, बल्कि देखा जाय तो यह खौफ बढ़ता ही जा रहा है। सरकारी महकमों से आज भी सबसे ज्यादा 'आतंक' पुलिस का है। हिन्दुस्तान के साधारण आदमी के दिमाग में पुलिस की छवि 'क्रूरता' से आरंभ होती है और भयानक क्रूरता में जाकर समाहित होती है। फिर किसानों के जीवन में लेखपाल पटवारी, वी०डी०ओ० बैंक मैनेजर इत्यादि की कारगुजारियाँ हमेशा खौफ पैदा करती हैं। जो लोग गाँवों में जीवन नहीं गुजारे हैं उन्हें एक औसत किसान-मजदूर की जिन्दगी की कैफियत का अंदाजा नहीं है। भारतीय समाज आज जिस सभ्यता के दौर से गुजर रहा है, वहाँ हिंसा, बर्बरता आज के समय की एक निर्मम सच्चाई है। इस 'गुण्डा समय' में आतंक का माहौल सिर्फ आतंकवादियों की कारगुजारियों का नतीजा नहीं है बल्कि आतंक को सबसे ज्यादा ताकत देनेवाली शक्ति है- सत्ता और मुकुट। कहना होगा कि इन दोनों ताकतों के विरोध में खड़ी है- विश्वनाथ की कविता। कविता आराम की अमराई में धूमकर 'गीत' रचने की जगह नहीं है। वह जीवन और समाज की जीवित सच्चाइयों से सामना करते हुए व्यवस्था से सीधी जंग करने का ऐलान है। विश्वनाथ की कविताएँ व्यवस्था की क्रूर ताकत का पर्दाफाश करती हैं और उसके आतंक का चित्रण करते हुए पाठक को सचेत करती हैं। जिस आतंक की चर्चा की जा रही है उसका 'हॉरर' कितना खौफनाक हो सकता है उसकी ओर इशारा करने के लिए कवि द्वारा सन् 1977 में लिखी उनकी बहुचर्चित कविता 'आरा मशीन' का उदाहरण देना पर्याप्त होगा। व्यवस्था की 'आरा मशीन' की खौफनाक कार्यवाही इस विलक्षण कविता से जिस सूक्ष्मता और साफगोई के साथ व्यक्त हुई है वह क्रांतिकारी कवियों के लिए सबब भी है- "चल रही है वह/इतने दर्प में/कि चिनगारियाँ छिटकती हैं उससे/दौड़े आ रहे हैं/अगल-बगल के यूकिलिप्टस/और हिमालय के देवदारु/उसके आतंक में खिंचे हुए/दूर-दूर अमराइयों में/पक्षियों का संगीत गायब हो गया है/गुठलियाँ बाँझ हो गई हैं/उसकी आवाज से/मेरा छोटा बच्चा देख रहा है उसे/कौतुक से/कि कैसे चलती है वह/कैसे अपने आप एक लकड़ी/दूसरे को ठेलकर आगे निकल जाती है/और अपना कलेजा निकालकर/संगमरमर की तरह चमकने लगती है/मेरा बच्चा देख रहा है अचरज से/घूमता हुआ पहिया और पट्टा/बच्चा निकलता है ताली बजाकर/मैं सिहर जाता हूँ/अभी मेरे सीने से गुजरेगी/मेरे

भीतर से एक कुर्सी निकलेगी/राजा के बैठने के लिए/राजा बैठेगा सिंहासन पर/और बन महोत्सव मनायेगा।" (आरामशीनः बेहतर दुनिया के लिए, पृ०-9, 10)।

अब जरा गौर करिये इस पूरी कविता के टेंपर और टेंशन पर कविता का मकसद यहाँ व्यवस्था को तेज और नुकीली दाँतोंवाली आराम मशीन के जरिये आतंक का माहौल क्रियेट करना भर नहीं है, बल्कि व्यवस्था की क्रूरता और निर्ममता का सहज बोध के साथ साक्षात्कार कराने का है। अभीष्ट है आरामशीन व्यवस्था का सांगरूपक है। महज 'कुर्सी' बचाने और मजबूत किलेबंदी के साथ उसे बदस्तूर रखने के लिए कितने युकिलिप्टस काटे जायेंगे, अंदाजा लगाना कठिन है। पूरी कविता अपने अर्थबोध में जितनी स्पष्ट और पारदर्शी है, अभिव्यक्ति के मामले में उतनी सहज और बेलाग। अभिव्यक्ति के मामले में इस कविता की सहजता ही कला है और कवि के कविकर्म की फलश्रुति भी। विश्वनाथ की खूबी इस बात में कबिले तारीफ है कि वे कविता के वितान में 'सहजता' के ताने-बाने को शुरू से अंत तक साधे रहते हैं। जिस कविता में इस 'हुनर' को अंत तक निवाह लेते हैं वह काव्योपलब्धि हो जाता है। कहना न होगा कि काव्याभिव्यक्ति में 'सहजता' की यह कला उनके परवर्ती काव्य में लगातार विकसित हुई है। जिसके उदाहरण उनके नये काव्यसंग्रह 'फिर भी कुछ रह जायेगा' की अनेक कविताओं में देखे जा सकते हैं। इस लिहाज से 'आरामशीन' की पठनीयता आज भी मिशाल है।

यहाँ विश्वनाथ जी कविता में 'स्वाधीनता' का मूल्यबोध सिर्फ 'वैयक्तिक' नहीं है, बल्कि सार्वजनिक और सामूहिक है। इस मूल्यबोध को अस्तित्ववाद कोटि में रखकर नहीं जाँचा-परखा जा सकता। बल्कि यह मूल्यबोध भारतीय समाज के औसत आदमी के दुर्निवार दुखों-यातनाओं की मनोभूमि से पैदा हुआ है। विश्वनाथ के स्वाधीनता बोध को समझने के लिए इनके भीतर छिपे उस देहाती साधारण आदमी की जिंदगी में झाँकना जरूरी है जिसे आजादी के दशकों बीत जाने के बावजूद अच्छा खाना-पहनना नसीब नहीं हुआ। इस देहाती आदमी की छवि पूर्वी उत्तर प्रदेश के भोजपुरी भाषी गरीब आदमी की आत्मा के भीतर खोजी जा सकती है। विश्वनाथ के स्वाधीन विवेक को समझने के लिए उनकी आरंभिक मानसिक बनावट को भी समझना होगा। वे इस मूल्य के बारे में खुद बयान करते हैं- "असल में बचपन से ही परिवार में मुझ पर कोई अंकुश नहीं था और इससे मुझमें स्वाधीनता की चेतना पैदा हुई। यानी मैं कहीं जाऊँ कोई भी काम करूँ ..... लेकिन जो भी हो जन्म से जो स्वाधीनता का बोध मुझमें आया वही प्रकारान्तर से आपको मेरी कविताओं और साहित्य में दिखेगा। बचपन से ही मैंने यह पाठ सीखा कि कहीं किसी दवाब के आगे झुकना नहीं है और इस स्वाधीनता को मैं बड़ा मूल्य मानता हूँ। इसलिए तमाम तरह के मतवाद और विचार धाराएँ जिनसे लोग आतंकित होते हैं। मैंने उन्हें पढ़ा-समझा पर उनके रोब में कभी नहीं आया ..... फिर बचपन में गाँव के लोगों की जो गरीबी और असहायता देखी या गाँव के लोगों पर जो अत्याचार होते थे- कभी

सरकारी कर्मचारियों द्वारा, कभी पुलिस के द्वारा। इससे मेरे भीतर दर्द और गुस्से की एक लहर पैदा हुई। एक प्रोटेस्ट करने की तीव्र इच्छा पैदा हुई और यह प्रोटेस्ट करना ही शायद मेरे लेखन की पहली प्रेरणा थी। यानी कविता के द्वारा या साहित्य के द्वारा प्रोटेस्ट करना।" विश्वनाथ प्रसाद तिवारी: साहित्य का स्वाधीन विवेक, पृ०-21-22)।

विश्वनाथ की कविता का दूसरा बड़ा मूल्यबोध है- स्त्री अस्मिता की खोज। बुनियादी रूप से इस मूल्यबोध के भीतर स्वाधीनता बोध की अवधारणा ही है। उनकी कविता में स्त्री अस्मिता की खोज दरअसल एक औसत भारतीय स्त्री की अवधारणा से विकसित हुई है जिसे पश्चिम के नारीवादी अवधारणाओं से नहीं समझा जा सकता। भारतीय समाज में भी यह स्त्री शहरी मध्यवर्ग की परिधि से अलग है। उनकी कविता में भारतीय स्त्री का चेहरा एक औसत घरेलू स्त्री की छवि से बना है। महाकवि निराला के शब्दों में कहूँ तो 'जो मार खा रोई नहीं।' जरा देखिए इस गूंगी लड़की का मार खाया चेहरा- 'बचपन में एक सदमें में/आवाज खो बैठी/वह लड़की/अब दरवाजे-दरवाजे मांग रही है/अपनी वाणी/बच्चें किलकर हँसते हैं/जब वह रोती है' (वाणी: बेहतर दुनिया के लिए, पृ०-65)।

विश्वनाथ स्त्रियों के संसार में उस स्त्री को चुनते हैं जो जीवन से वंचित है। घरेलू स्त्री की छवि जानी पहचानी है। वह श्रमशील स्त्री का चेहरा है। समाज की निगाह में श्रमशील स्त्री वह है जो रोजगार में हो या फिर कामगार हो, क्योंकि वहाँ से उसे पैसा मिलता है। पर घरेलू स्त्री को आमतौर पर श्रमशील स्त्री नहीं माना जाता। क्योंकि घर से वह पैसा नहीं कमाती। पर घरेलू स्त्री के मूल्य को पहली बार डॉ० राम मनोहर लोहिया ने पहचाना था। जिनकी निगाह में एक औसत घरेलू स्त्री सुबह से शाम तक अपने घर में कम से कम 10 से 15 मील रोज पैदल चलती है। उन्होंने ही बताया था कि भारतीय स्त्री की मृत्यु के दो कटघरे है- 'रसोई घर' और 'प्रसूति गृह'। डॉ० लोहिया ने ही तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी को भारतीय संसद में किसी सवाल पर तेज लहजे से रोका था कि "इस देश में एक औरत प्रधानमंत्री कैसी स्त्री है जो घरेलू स्त्रियों को एक अदद सस्ता झाड़ू और सब्जी काटने के लिए एक मामूली चाकू भी मुहैय्या नहीं करा सकती।" कहने की जरूरत नहीं कि एक औरत भारतीय घरेलू स्त्री की यातना भरी जिन्दगी अकथनीय है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि तमाम सुधारों के बावजूद आज भी समाज से लेकर घर तक स्त्री और दलित की कोटि एक है। मुक्ति की राहें जहाँ भी खुलती हैं तभी आगे दरवाजा बंद कर दिया जाता है। हिन्दी कविता का सलूक भी स्त्री के मामले में सामंती या अर्धसामंती ही रहा है। इधर की कविता को देखें तो स्त्री के मामले में कवियों की अवधारणाएँ बदली हैं। पहले की कविता में स्त्री सजावट की चीज थी। घर की शोभा या फिर बिस्तर की जरूरत। पर इधर के कवियों में स्त्री विषयक पूर्वाग्रह खत्म हुए हैं। घरेलू स्त्री के श्रममूल्य को इज्जत दी गई है। उसके संघर्ष-त्याग और प्रतिरोध की ताकत को

नये सिरे से परखा गया है। इस तरह एक जनतांत्रिक मूल्यबोध का आकलन इधर के कवियों में स्त्री समाज को लेकर विकसित हुआ है। स्त्री केवल पत्नी और प्रेयसी भर नहीं है, वह मित्र भी है। स्त्री का मित्र भावबोध का विकास ही नर-नारी समानता है और यहीं से समाजवाद की नींव पड़ती है। दरअसल स्त्री स्वाधीनता और स्त्री अस्मिता की बुनियाद यहीं से शुरू होती है।

इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो विश्वनाथ की स्त्री दृष्टि काफी उदार, गरिमामयी और स्त्रीश्रम का मूल्य आँकनेवाली है। यद्यपि उनकी स्त्री लोकजीवन की पारंपरिक स्त्री है जो मार खाकर रोती तो है, पर विद्रोह नहीं करती। एक औसत भारतीय स्त्री की छवि यही है। भारतीय स्त्री की नियति की खोज करते हुए कवि इतिहास और परंपरा दोनों से टकराता है। मगर अफसोस उसे सिर्फ हताशा ही हाथ लगती है। वह स्त्री नियति की खोज में लोकजीवन के अलावा लोकगीतों, लोकगाथाओं में भी भटकता है। पर उसे वहाँ भी मुक्ति दिखायी नहीं देती। कहीं नैतिकता के पहलें हैं, कहीं परम्पराओं के नाम पर जड़ताओं की बेड़ियाँ हैं। दिलचस्प तथ्य यह है कि विश्वनाथ ने लोकजीवन की कविता में 'गाय' और ग्रामीण स्त्रियों पर एक साथ कविताएँ लिखी हैं। इन कविताओं को पढ़ते हुए पाठक सहज ही एक औसत भारतीय स्त्री और गाय दोनों की नियति बाँच सकते हैं- "भोला ने उसका पगहा खोल लिया था/पर वह जाने को तैयार नहीं थी/उसने कई बार सिर हिलाया/सिंग झारा/और अंत में हार कर धीरे-धीरे चलने लगी। ..... उस दिन सब वहीं थे/जब वह बेची गयी।" (गाय: बेहतर दुनिया के लिए, पृ०-32) "विदा हो रही है स्त्री/सड़क किनारे पीपल के नीचे जमा हैं/कुछ स्त्रियाँ/जो बस में चढ़ा देती हैं उसे/लाल आँचल में लिपटा/अबोध शिशु है उसकी गोद में ..... आँख पोछती है वह पल्लू से/चश्मे के भीतर मैं भी पोछता हूँ/आँखें अखबार की ओट में/ क्योंकि फर्क है पुरुष स्त्री के आँसुओं में ..... हिचकोले से बचाने अबोध शिशु को/गुमसुम बैठी वह/छिपाते अपना भय" (भय: फिर भी कुछ रह जायेगा, पृ०-25, 26)।

कवि ने भारतीय स्त्री की नियति को इतिहास और परंपरा में खोजते हुए, खुद उसकी जुबानी ही उसकी दास्तानों को दर्ज किया है। व्यथा कथा का अंत नहीं- "मुझे याद हैं अपने अनंत जनमों की कथा ..... जली मैं वीरांगना/बिकी मैं वारागंना/देवदासी द्रोपदी/कुलवधू नगरवधू कितने कितने मिले मुझे नाम रूप/पृथ्वी पवन, जल, अग्नि, गगन, मरु पर्वत वन/सबमें व्याप्त है मेरी व्यधा" (अनंतजन्मों की कथा: वही, पृ०-20-21)।

'रूपकुँवरि' कविता के बहाने स्त्री का दुखबोध, स्त्री नियति को इतिहासबोध में समेटने की यह कोशिश देखने योग्य है- "सुने श्रेष्ठिजन/राजधानी नगरवासी/गुरू वशिष्ठ सुने/चुनौती नहीं है यह/आँचल पसारती हूँ तुम्हारे आगे/रूपकुँवरि/इस वक्त मैं जहाँ हूँ/खत्म हो गयी है धरती/और पीछे टूट गया है ईश्वर/कितना कुछ छोड़ना पड़ता है/करनी पड़ती है कितनी लम्बी यात्रा/स्त्री होने के लिए/और मरने के पहले" (रूपकुवरि: आखर अनंत,

पृ०-)। कवि का मानना है कि यही है/जो महारथियों के बीच नंगी होती/करती अगिन अस्नान/धरती में समाती रही युगो युगो से/लोक मर्यादा के लिए/यही है/जिसे इतनी बार देखा है/कि याद नहीं आता/कहाँ देखा इसे" (कहाँ देखा है इसे: फिर भी कुछ रह जायेगा, पृ०-68)।

भारतीय स्त्री के जीवन और उसकी नियति का साक्षात्कार करते हुए कवि ने स्त्री के जितने भी चरित्र हो सकते हैं, उसकी जितनी भूमिकाएँ हो सकती हैं उसका व्यापक सर्वेक्षण कविताओं में दिखायी पड़ता है। स्त्री दुखों को लेकर कविता लिखने वाले कवियों में चन्द्रकांत देवताले को महारत हासिल है। निश्चय ही देवताले बेजोड़ कवि हैं, पर समकालीन हिन्दी कविता के परिदृश्य में विश्वनाथ की निगाह में स्त्री की शिनाख्त न केवल वर्तमान में होती है बल्कि वे अतीत और भविष्य दोनों ओर छलांग लगाकर स्त्री नियति को पकड़ने की कोशिश करते हैं। स्त्री की नियति को देखने का यह दृष्टिकोण निखालिस भारतीय है। पश्चिम की स्त्रीवाही आंदोलन की बाढ़ में डूबने और उतरने वाले कवियों-कवयित्रियों की जमात से अलहदा विश्वनाथ का कवि स्त्री दुखों से घनीभूत होकर एकाकार हो गया है। पर सवाल दुखों की पहचान का ही नहीं है, बल्कि जरूरत है दुखों के विरुद्ध प्रतिरोध की। कविधर्म यही है। कवि कहता है कि 'स्त्री को समझने के लिए जन्म लेना पड़ेगा स्त्री रूप में'। यह तथ्य सही है पर इस जन्म में तो सहचर बनकर मित्रभाव के साथ उसके विरुद्ध हो रहे हर अत्याचार के विरुद्ध उसका साथ देना ही पड़ेगा। स्त्री के बारे में कवि की यह 'आखिरी अनुकंपा' देखिये- "हे मेरे समय की देवियो/सुहागिनो-आभागिनियों/कुवारियो-वेश्याओ/फिर कभी मत पुकारना मा को/आखिरी अनुकंपा है यह धरती माँ का/नारी जाति पर" (आखिरी अनुकंपा: कवि ने कहा, पृ०-133)।

इस परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो 'उसके दुख', 'स्त्री की तीर्थयात्रा' जैसी कविताएँ आज के परिवेश में आधुनिक स्त्री के जीवन में दुख को गहराई में जाकर देखने की कोशिश है। 'उसके दुख' कविता में विज्ञापन की लड़की के दुख को निहारने, फिर पहचानने की कोशिश है। विज्ञापन में लड़की का रेह साबुन की तरह इस्तेमाल किया जाता है। जिनता कम वस्त्र उतना ज्यादा पैसा। विज्ञापन, फिल्म और बाजार ये नये दौर के ऐसे शिकंजे हैं जिससे स्त्री चाहकर भी नहीं निकल पाती। यह आकस्मिक नहीं है कि पूंजीवाद का सबसे तेज असर 'स्त्री' पर पड़ा है। पूंजीवाद मानता ही है- स्त्री व्यक्ति नहीं 'वस्तु' है और वस्तुएँ इस्तेमाल के लिए ही बनती हैं। इस कविता के अंत में विज्ञापन की लड़की से कवि पूछता है- 'क्या अपने दुख को/मेरे सुख में तब्दील कर देना ही/नहीं है उसका दुख?' (उसके दुख: कवि ने कहा, पृ०-130)।

'स्त्री की तीर्थयात्रा' की चर्चा इसलिए जरूरी है कि विश्वनाथ की स्त्री निगाह ज्यादातर घरेलू कर्म व्यापारों पर केन्द्रित स्त्री समूहों पर है। माँ सीरीज़ पर वर्षों पहले लिखी

उनका कविताओं की लोकप्रियता और गंभीरता इसीलिए आज भी बना हुई है क्योंकि 'माँ' के रूप में स्त्री की सारी छवि घरेलू कर्म व्यापारों के इर्दगिर्द बनी रह गयी है। यह शहरी भद्र कुलीन माँ की तस्वीर नहीं है, बल्कि लोक जीवन में जन्म से लेकर मृत्यु तक कर्मरत एक माँ की तस्वीरे हैं। जिनके दुख ही सुख बन गये हैं। जिनके अभाव ही मुख्य भाव हैं। भारतीय समाज में एक औसत स्त्री माँ के रूप में ही महान मानी जाती है। इसके पीछे उसका पारंपरिक आत्मदान और आत्मोत्सर्ग का भावबोध छिपा हुआ है। यानी उसे पाना कुछ नहीं, खोना ही खोना है। वह खोने में ही पाने का सुख बटोरती है। विश्वनाथ की 'माँ' सीरीज़ की लगभग सभी कविताएँ इसी भावबोध को अभिव्यक्त करती हैं: माँ की मृत्यु से शोकाविभूत कवि की माँ की सत्तर वर्षों की स्मृतियाँ उसके साथ-साथ चल रही हैं। लोग कहते हैं कि आदमी शोक में होश खो बैठता है। पर कवि की खूबी है कि वह शोक को अपने भावयंत्र पर हावी नहीं होने देता। स्त्री के सामूहिक दुखों को माँ के दुखों और सुखों की फेहरिश्त में पिरोकर जिस सघन भावबोध के साथ स्त्री-दुखों की शिनाख्त की गयी है। मुझे लगता नहीं कि इस मनोभूमि पर 'सरोज स्मृति' के अलावा कोई उल्लेखनीय कविता आधुनिक युग के काव्य में और लिखी गई है। मलयज ने 'सरोज स्मृति' की शिनाख्त करते हुए 'सरोज स्मृति' कविता को 'दुख की चीख से बाहर आने की छटपटाहट' कहा था। विश्वनाथ की 'माँ' सीरीज़ पर लिखी कविताओं को पढ़ते हुए लगता है जैसे माँ के स्मरण के बहाने कवि एक भारतीय स्त्री के दुखों के इतिहास को उसकी अंत्येष्टि पर पुनरोच्चार कर स्त्री यातना की बेइंतहा तकलीफ को कम करना चाहता है। माँ का इतिहास मृत्यु बोध का शिलालेख बन गया है जिसे वह बाँचकर हल्का होना चाहता है। एक लम्बे शोकगीत की आवाज बनकर पाठक की मनोवेदना को टटोलता है। 'माँ' सिरीज माँ की गाथा नहीं, समूची स्त्री की गाथा है- "माँ का आँचल जल रहा था/जिसमें छिपाया करती थी वह हमें/..... माँ अकेली लड़ रही थी/लहरों से हवा से आकाश से/सत्तर वर्षों का अनुभव था उनके साथ (उड़ गई माँ: कवि ने कहा, पृ०-87)। सुकवा और षटमचिया से नापे थे उसने/समय के सत्तर वर्ष/जीवन को कुतरती धीरे-धीरे/गिलहरी सी चढ़ती उतरती/कालवृक्ष पर/..... अचानक नहीं गई थी/थोड़ा थोड़ा रोज गई/जैसे जाती है आँखों की रोशनी/या अतीत की स्मृति" (अचानक नहीं गई माँ, वही, पृ०-88)। "दिखेंगे नाग पंचमी के साथ/दशहरे में नीलकण्ठ/क्वार के खंजन/बस माँ नहीं दिखेगी/फिर कभी इस रूप में" (नहीं दिखेगी माँ: वही, पृ०-90)। "माँ की चारपाई के पास/दिखती हैं काली छायाएँ/..... वह मृत्युलोक के/सबसे बड़े षड्यंत्र में हिस्सेदार है/यमदूत ढूँढ रहे हैं माँ को" (यमदूत ढूंढ रहे हैं माँ को, वही, पृ०-90-91)। "कैसे पार करेगी वह/सैकड़ों योजन वैतरणी?/हे अनंत पथ के पहरेदारों/फूल की तरह ले जाना उसे/धर्म राज की सभा में" (कैसे जायेगी माँ: वही, पृ०-92)। "उस अंधेरे के जंग में/माँ के लिए कवच कुण्डल थी आग/राख से लिपटा/माँ के दिल की तरह धुकधुकाती/..... अंधो में वह धीरे से

उठता/आग को और सावधानी से छिपा देती राख में/जैसे अपने आँचल से ढककर हमें दूध पिला रही हो" (मां और आग: वही, पृ०-93-94)।

'माँ' सिरीज की आखिरी कविता 'माँ और आग' के संबंधों में अगर भारतीय स्त्री का रूपक आग बना दिया जाय तो कहा जा सकता है वह दूसरों के लिए पैदा होती है और खुद आग बनकर जीवन पर जलता हुई राख के ढेर में 'स्वाहा' हो जाती है। भारतीय स्त्री की नियति एक क्रूर ट्रेजडी है। जिसे लोकजीवन में 'माई' कहते हैं। भारतीय सभ्यता के पांच हजार वर्षों के इतिहास में आज बेटियाँ और बेटे जरूर बदल गये हैं पर इतिहास की इतनी लम्बी यात्रा की थकान लिए 'माई' का चेहरा अभी भी 'वही' है जिसे हमारे पूर्वजों ने देखा था और आज हम देख रहे हैं। पर 'माई' में बदलाव नहीं आया। सवाल उठता है कि क्या भारतीय स्त्री खुद नहीं बदलना चाहती? या फिर लोग उसे नहीं बदलने देते? 'माँ' सिरीज के हाल के वर्षों में लिखी विश्वनाथ की कविता कुछ यही हाल बयान करती है। यहाँ घरेलू स्त्री जो माँ है, की दिनचर्या ही तीर्थयात्रा बन गयी है- "सवेरे-सवेरे/उसने साफ किये/घर भर के जूठे बर्तन/झाड़ू पोछे के बाद/बेटियों को संवार कर/स्कूल रवाना किया/सबके लिए बनाई चाय/..... दोपहर को भोजन के आखिरी दौर में आ गये एक मेहमान/दाल में पानी मिलाकर/किया उसने अतिथि सत्कार/और बैठ गई चटनी के साथ/बची हुई रोटी लेकर/..... बिस्तर पर गिरने के पहिले/वह अकेले में थोड़ी देर रोई/अपने स्वर्गीय बाबा की याद में/फिर पति की बाँहों में/सोचते-सोचते बेटियों के ब्याह के बारे में/गायब हो गई सपनों की दुनिया में/और नींद में ही पूरी कर ली उसने/सभी तीथों की यात्रा" (स्त्री की तीथयात्रा: वही, पृ०-137-138)।

कहना न होगा कि विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के कवि कर्म में स्त्री अस्मिता की खोज उनके कवि कर्म के बुनियादी सरोकारों में सबसे अहम रहा है। उनकी कविता के घर में स्त्री के लिए जगह ही जगह है। उनकी दृष्टि में स्त्री के जितने विविध रूप हैं वे सब सृष्टि के सृजन संसार हैं। वह माँ के रूप में महान तो है ही, प्रेयसी के रूप में वह सच्ची दोस्त है जिसे वह बराबर की हकदार मानते हैं- स्त्री पुरुष का 'मिलन' इतिहास को बदल सकता है। असंभव को संभव कर सकता है- "मैं महसूस कर रहा था/हमदोनों के मिलने से/जो लहरें पैदा हो रही थीं/वे क्रूरतम इतिहास को बदलने में समर्थ (मिलन: वही, पृ०-71)। प्रसिद्ध साम्यवादी कवि अनेस्तो कार्दिनल ने कहा भी है कि जो कवि जीवन में प्रेम नहीं करते और प्रेम कविताएँ नहीं लिख सकते वे न तो क्रांति कर सकते हैं और न क्रांतिकारी कविताएँ लिख सकते हैं।"

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के कवि-कर्म के बुनियादी काव्य मूल्यों में जीवन का एक अविस्मरणीय मूल्य मृत्यु-बोध है। यह मृत्युबोध जीवन का अंत नहीं है। बल्कि 'हर्डेल रेस' है यानी बाधा-दौड़। मृत्युबोध के बाधा-दौड़ में उनकी अनेक सयानी, वयस्क और किंचित दार्शनिक कविताएँ जीवन और मृत्यु के प्रश्नों से लगातार जिरह और बहस

में उलझती हैं। जिसमें कवि का आत्मबोध भी बोलता है। दरअसल मृत्यु एक निश्चित और अनिवार्य क्रूर सच है। इस अनुभव का सामना कमोवेश हर बड़े कवियों ने किया है। निराला, अज्ञेय, मुक्तिबोध के अलावा कुँवर नारायण, श्रीकांत वर्मा, अशोक वाजपेयी और विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की कविताओं में मृत्युबोध की आवाजें गहरी और पाठकों को अकेला कर देनेवाली साबित होती हैं। अक्सर काव्यप्रेमी मृत्युबोध को जीवन का प्रश्न नहीं मानते। वे कहते हैं कि मृत्युबोध कविता का विषय नहीं होना चाहिए। यह दर्शन और आध्यात्म की चीज है। भला दर्शन और आध्यात्म से कवि का क्या वास्ता? साहित्य जीवन की व्याख्या है। मृत्यु जीवन से परे का अनुभव है। इस लिए वह काव्य का विषय नहीं हो सकता। मार्क्सवादी नजरिये से देखा जाए तो यह अनुभव जीवन से पलायन है। कविता जीवन-संघर्ष का दस्तावेज है। मृत्युबोध चुके जीवन का शिलालेख है।

नयी कविता के दौर में जिन कवियों में मृत्युबोध का आवेग प्रबल था उन्हें अस्तित्ववादी करार देकर तकसीम कर दिया गया। हिन्दी के शलाका-पुरुष, आलोचक राम-विलास शर्मा ने मुक्तिबोध के 'संशय' और मृत्युबोध की अभिव्यक्तियों के नाते ही उन्हें अस्तित्ववादी करार दिया। पर क्या कविता में स्वयं को खोजना, ढूंढना, आत्माभियोग लगाना खुद के खिलाफ फैसले देना आस्तित्ववाद है जो पश्चिमी दर्शन का उत्पाद है? कविता में इस बोध की अभिव्यक्ति गर्हित है? इसीलिए वर्जित भी है? श्रीकांत वर्मा के कविकर्म की शिनाख्त करते हुए एक दिलचस्प वक्तव्य में अशोक वाजपेयी ने कहा था कि "अगर कविता एक अदालत है तो मुझे लगता है कि श्रीकांत वर्मा की कविताएँ खुद के खिलाफ चलाया गया मुकदमा लगती हैं जहाँ वे खुद के खिलाफ जिरह करते हैं और खुद के खिलाफ फैसले भी देते हैं।" दरअसल यह भावबोध, आत्माभियोग और आत्मस्वीकार लगातार खुद को निरसित करते रहने के बाद कवि में पैदा होता है। आज की कविता के सवाल पर अशोक वाजपेयी ने एक वाजिब प्रश्न पूछते हुए कहा है कि भारत के सभी बड़े कवियों का एक आध्यात्म-दर्शन रहा है। वह केवल भक्तिकाल के बड़े कवियों के दौर की ही चीज नहीं है, बल्कि आज के कवि के लिए भी जरूरी है। सामाजिक कर्म की कविता के साथ हर कवि का एक ऐसा कोना सुरक्षित होना चाहिए जहाँ पर अपना एकांत लिख सके। यह एकांत ही आज के कवि का आध्यात्म है।

इस लम्बी तकरीर के पीछे आशय यह छिपा है कि हर कवि का एक एकांत कोना होना चाहिए। भले ही उसकी कविता नितांत सार्वजनिक जीवन से ओतप्रोत क्यों न हो? इस दृष्टि से विचर करें तो विश्वनाथ के कवि-कर्म में राजनीतिक, सामाजिक कविताओं की बहुतायत के बावजूद एक सुरक्षित एकांत कोना हर संग्रह की कविताओं में मौजूद है। इस कोटि की कविताओं पर विचार करते वक्त लगता है कि यह कवि का मृत्युबोध है जिसे वे अपनी कविताओं में अनेक आध्यात्मिक पदों की नामावलियों के साथ उतारता है। जैसे मृत्युबोध के लिए बार-बार वह काया की नश्वरता की बात करता है।

नश्वरता के बरअक्स अमरता का एकाधिक प्रयोग जगह-जगह कविताओं में दिखता है। उनके पाँचवे संग्रह का नामकरण 'फिर भी कुछ रह जायेगा' की अर्न्तध्वनि ही नश्वरता के समानान्तर अमरता की सिफारिश है।

विश्वनाथ की कविताओं के स्वभाव को देखते हुए कहा जा सकता है कि उनके कवि की समूची संरचना देशज और स्वाधीनता के भावबोध के साथ रची-बसी है। काव्यानुभूति से लेकर काव्य की बनावट तक। भोजपुरी अंचल में पले-पुसे और सयाने हुए विश्वनाथ के मनोलोक की पूरी संरचना भोजपुरी समाज के देशज आदमी की है। उनकी कविताओं में इस समाज का आदमी प्रायः निकल आता है- विपत्ति में लाठी की तरह दंभ से तनकर। भोजपुरी समाज के औसत आदमी के मन में 'ईश्वर' को लेकर गहरी आस्था है। आस्था की जड़े इतनी गहरी हैं कि वह ईश्वर के विरुद्ध एक शब्द भी सुनने को तैयार नहीं है। वह अपने जीवन में जो कुछ भी अच्छा बुरा घटित हो रहा है उसे ईश्वर की देन मानता है। इसलिए उनकी आस्तिक कविताओं में ईश्वर की गहरी छाया मौजूद है। यह उनके 'अकेले कंठ की पुकार' नहीं है, बल्कि पूरे भोजपुरी समाज के औसत मनुष्य की पुकार है। ऐसे मनुष्य में मृत्युबोध की समूची अनुभूतियाँ देशज हैं। इन कविताओं में मृत्युबोध की वैचारिक सरणियाँ पश्चिमी आस्तित्ववाद से प्रेरित न होकर सच्चे अर्थ में भारतीय है। जैसे दुखबोध मूलक कविताओं में बौद्ध दर्शन और गांधीवाद की अवधारणाएँ तलाशी जा सकती है। कवि ने शास्त्र के बजाय लोक को प्रमाण माना है। उसकी निगाह में मनुष्यता के दुख को हरने में विचारधाराएँ नाकाम साबित हो रही हैं। इसलिए वह जीवन का सत्य लोकमत के जरिये हासिल करना चाहता है। कवि की स्वीकारोक्ति है कि "यह लोक सबसे बड़ा सत्य है। सारे मूल्य, सारे प्रतिमान इसी से निकले हैं इसके सामने धर्म, विचारधारा और सिद्धांत सब निरर्थक हैं। लोक में ही भाव और विचार पैदा होते हैं। लोक में ही कल्पना उड़ान भरती है।" (कुछ और: कवि ने कहा, पृ०-9।

विश्वनाथ की कविताओं में मृत्युबोध की जितनी भी अनुभूतियाँ हैं वह लोकमत से प्रेरित हैं। वह लोकमत से इस कदर प्रेरित होते हैं कि कई बार इस जीवन को छोड़छाड़ वैराग्य की तरफ रूख करते दिखते हैं। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि मृत्युबोध की इन कविताओं में 'भय' नहीं दिखता, बल्कि निर्भय होकर उसका सामना करने की कोशिश झलकती है।- "अभी-अभी तो आया हूँ/और अभी अभी वसंत भी आया है इस धरती में ..... मैंने मृत्यु से कह दिया है थोड़ा बाद आना/तब तक हम गा लेंगे एक और गाना" (मृत्यु से: वही, पृ०-21)। "मरता हुआ आदमी/क्या चुपचाप मरता है/देखते नहीं हो/कंधे जख्मी हो गये हैं उसके/मत्यु को ठेलते ठेलते/घुटनों से रक्त बहता है/छटपटाता है वह रेत पर मछली की तरह/चीखता है जैसे सुरंग में घुसती हुई हवा/अंगों को बेचैनी में मरोड़ता/साँप की तरह/फन पटकता है/फिर आती है निर्जन मृत्यु/सागर लहरों को समेट लेता है/लपटे बुझ जाती हैं/और जलता हुआ जंगल ठंडा हो जाता है।" (मरते आदमी के

साथ-साथः वही, पृ०-37)। "इन मरते हुए साथियों के साथ/उस दिन पुख्ता हुआ मेरा विश्वास/कि कुछ है/कुछ है जो महान है हमसे भी/जिसके लिए हम मर जाते हैं (कुछ हैः वही, पृ०-54)। वे जानते हैं जिस दिन वे मरेंगे/मैं नहीं रहूँगा उनके पास/शरीक होना सबसे बड़ी यातना है बाबा/लेकिन मुक्ति क्या है उसके सिवा? (मुक्तिः वही, पृ०-56)।

"वे बेखबर थे/हवा में तैरते चौकड़ी भरते/गुजर रहे थे ..... एक गोली दगी/उस की कोख में धाँय ..... वे अपने हत्यारे से पूछना चाहती थी कि क्यों?" (हिरनः वही, पृ०-63-64)। "एक गोली सनसनाती हुई आई/सोया हुआ जल कराहने लगा/कुछ कबूतर फड़फड़ा रहे थे/धाँय धाँय धाँय/लो कुछ और गिरे/पहाड़ काँप रहे थे। पेड़ सिसक रहे थे" (इतिहासः वही, पृ०-68)। "इसी मिट्टी में/मिली हैं उनकी अस्थियाँ/अंधेरी रातों में जो करते थे मोर का आहवान/बेड़ियों में जकड़े हुए/जो गुनगुनाते रहते थे आजादी के तराने/माचिस की तीली थे वे/चले गये एक लौ जलाकर" (अपने पुरखों के लिएः वही, पृ०-85)। "एक अंधेरी सुरंग में/अधूरी इच्छा सी गुजरती हुई/सोचती हुई/अचानक आ धमकने वाली मृत्यु के बारे में/वह बची रहेगा/स्वप्न की तरह" (वह लड़की/ वही, पृ०-97।

इन उद्धरणों के आलोक में देखा जाय तो मृत्युबोध की इतनी सारी दृश्यावलियाँ, और छवियाँ इस तथ्य के प्रमाण देने के लिए काफी हैं कि कवि के मनोलोक में मृत्यु एक ध्रुव सत्य की तरह कविता के जीवन में पाँव पसारे बैठी है। जैसा कि 'माँ' की सीरीज की कविताओं की चर्चा करते हुए पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि उन कविताओं में मृत्युबोध का सीधा साक्षात्कार किया गया है। शायद इन कविताओं के बहाने कवि पाठकों को बताना चाहता है कि मृत्यु जीवन की अंतिम परिणति है जिसे नियति मानकर जीवन में मृत्यु से संघर्ष करना चाहिए। शमशेर ने कहा ही था कि - 'काल तुझसे होड़ है मेरी।'

इस प्रसंग में उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि मृत्युबोध की इन कविताओं में कवि ने हिन्दू दर्शन के पौराणिक आख्यानों, स्मृतियों के सहारे अपने पुरखों, पितरों को बार-बार स्मरण किया है। वह शायद मानता है कि-'स्मरण में है आज जीवन।' लोगों को याद करके भी हम जीवन समर में बार-बार लौटते हैं। विश्वनाथ की उत्तरवर्ती कविताओं में मितकथन के साथ जीवन का अतीत, वर्तमान से जिरह करता है। यमराज, धर्मराज, यम, युधिष्ठिर, बुद्ध आदि के उल्लेख बार-बार जीवन के अर्थ और उसकी निस्सारता के साथ उसके दुखबोध को परिभाषित करते हैं। मृत्युबोध के ध्रुव सत्य को आत्म स्वीकार करते हुए कवि का यह आत्मबोध पठनीय और मननीय है- "मेरे जन्म के साथ ही हुआ था/उसका भी जन्म/मेरी ही काया में पुष्ट होते रहे/उसके भी अंग/मैं जीवन भर सँवारता रहा जिन्हें/दरअसल वे उसी के हथियार थे/अजेय और आजमाये हुए ..... आखिरी बार जब मैं उससे बचने के लिए/मैं माग रहा था/तेज और तेज/और अपनी समझ से/सुरक्षित पहुँच गया जहाँ/वहाँ

वह मेरी प्रतीक्षा में/पहले से कोई खड़ी थी/मेरी मृत्यु" (मृत्युः वही, पृ०-136)। कवि का मृत्युबोध कहता है कि न रहने पर भी कोई रहता जरूर है- 'मैं रहूँ न रहूँ/होगा जरूर/कोई न कोई' (कोई न कोईः वही, पृ०-138)। वह कोई न कोई विचार और मूल्य ही शेष रह जाते हैं-जिसका ग्रहीता वंशज हो या समाज।

और अंत में यह कहना शेष रहा जाता है कि विश्वनाथ की कविताओं मे मन का एक ऐसा कोना सुरक्षित रखा है जहाँ वे आत्म से जिरह करते हैं, आत्म को खंगालते हैं और कई बार स्वयं को धिक्कारते हुए 'गुनाहों के सबूत' पेश करते हैं। वे खुद के बारे में कहते हैं- "शब्दों में छिपा होता है जैसे अर्थ/मुझमें छिपा था मेरा मैं ..... बेचैन आदमी था मैं/सोचता रहा/और जागता रहा/सारी-सारी रात ..... पागलों सा बटोरता रहा/एक चिथड़ सुख/बूढ़ों ने कहा नास्तिक/बच्चों ने कहा रूढ़िवादी/साथियों ने कहा व्यक्तिवादी/किसी की नहीं की परवाह/गलतियाँ की/मगर नहीं दी/किसी को गलत सलाह ..... मेरे गाँव के लोगों/मैनें पेश कर दिये/अपने गुनाहो के सबूत/और क्या दूँ तुम्हें/निकाल लो मस्तक से मेरी मणि/तुम्हारे आँसुओं को/आग की तरह ले जाना चाहता हूँ/धर्मराज के पास" (गुनाहों के सबूतः वही, पृ०-127)।

कहना न होगा कि आत्मबोध की इन कविताओं के बहाने पाठक रचयिता के स्वभाव और काव्यभिव्यक्ति में उसके लहजे को साफ-साफ पहचान सकते हैं। विश्वनाथ जी ने शुरू से अब तक निरलंकृत काव्यभाषा रची है। शब्द की संपदा पर अचूक पकड़ है उनकी। इस हद तक कि उनकी अनेक कविताओं में जीवनबोध और 'मनुष्यता' के लिए असीमित जगहें मौजूद हैं। वे अपनी एक कविता में दुहराते हैं कि 'फिर भी कुछ रह जायेगा/क्या रह जायेगा/यह मैं नहीं जानता/क्यों रह जायेगा/यह एक निरर्थक प्रश्न है/मैं तो बस इतना जानता हूँ/कि कुछ रह जायेगा' (फिर भी कुछ रह जायेगा, पृ०-86)।

जो बचा रह जायेगा वह शायद सूखे हुए काल के गाल पर चमकते हुए आँसू होंगे जो 'मनुष्यता' को बचाने के लिए अंतिम दम तक प्रयत्न करेंगे। जाहिर है इस काम को अंजाम देने वाले कवियों में विश्वनाथ की कविताएँ साथ चलते हुए हमारे साथ होंगी।

अलग से इस चयन को अंगीकार करते हुए मैंने कोशिश की है कि कवि के कवि-कर्म का कोना-कोना इस संचयन में समाहित हो। ताकि पाठक कवि के विकास-क्रम के साथ उसकी काव्यात्मक उपलब्धियों की विविधता का सर्वांग दर्शन कर सके। निश्चय ही पाठकों के लिए विश्वनाथ जी की कविताएँ खुली किताब की तरह हैं जिन्हें वे मनचाहा पढ़ सकते हैं और अपनी मनचाही राय भी कायम कर सकते हैं। कविताओं का चयन उनके सभी काव्य संग्रहों से किया गया है। अंत में कवि की पाँच नवीनतम कविताएँ भी शामिल कर ली गयी हैं। चयन सिर्फ मेरी काव्य रुचि का है। कवि की प्रतिनिधि कविताओं का दावा पेश करना मेरा मकसद नहीं। मेरा मकसद सिर्फ इतनाा था कि पाठक एक जगह एक साथ विश्वनाथ जी की कविताओं से रू-बरू हों।

❑❑❑

सर्जनात्मक आलोचना से गुजरते हुए

रेवती रमण

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के इन निबंधों में कुछ तो विशुद्ध सैद्धांतिक हैं लेकिन अधिकांश में सिद्धांत और व्यवहार को बिल्कुल अलग नहीं किया जा सकता। जैसे रचना में आलोचना और आलोचना में रचना की आवाजाही लगी रहती है, वैसे ही विश्वनाथ जी के आलोचनात्मक गद्य में लक्षण और लक्ष्य की चहलकदमी एक-दूसरे के परिसर में होती रहती है। इनमें साहित्यालोचन के विस्तीर्ण अन्तःकरण का अनुमान होता है। लेखक स्वभावतः कवि है। हिन्दी के समर्थ समकालीन कवि के रूप में उसकी पहचान है, किन्तु उसका एक विचारक रूप भी है। विवेचन-विश्लेषण में कवि-दृष्टि नवोन्मेष की पहल करती है और आलोचक-दृष्टि उसे एक तार्किक संगति देती है, किन्तु मनुष्यता का पक्ष ही अन्ततः प्रबल होता है। विश्वनाथ जी का पत्रकार मिशनरी है। यह एक बड़े यायावर भी हैं। उनकी पत्रकारिता के केन्द्र में 'दस्तावेज' का संपादन रहा है तो उनकी यायावरी के श्रेष्ठ सर्जनात्मक सुफल व्यक्तियों और स्थानों (देश-विदेश) से संबद्ध उनके संस्मरण हैं।

विश्वनाथ जी का बौद्धिक 'ऐक्टिविज्म' ज्ञान और संवेदना के साथ सदाचार के पक्ष में अपनी रीढ़ पर तना है। उसकी समझ शास्त्र सुचिन्तित है किन्तु लोकवेदना अधिक प्रभावाभिव्यंजक। इन निबंधों के लेखक में एक सुसंकृत भारतीय मनुष्य की छवि है- पूर्वांचल के किसान हृदय को प्रतिबिम्बित करने वाली, इसलिए व्यक्ति और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का विमर्श इनमें तर्क कर्कश नहीं, भावसंवलित है। लेखक शास्त्रीय अन्तर्वस्तु को लोकहृदय में लीन होकर जब

विश्वनाथ जी की दृष्टि में मनुष्य से बड़ी है उसकी 'करुणा'। 'करुणा' का अर्थ दया नहीं है। वह 'संवेदनाशीलता है जो एक को दूसरे से जोड़ती है।' 'करुणा भीतरी नमी है। उसके सूख जाने पर मनुष्य में कोई कल्याणकारी भाव पैदा हो ही नहीं सकता।'

उजागर करता है तब वह 'बुद्धि की मुक्तावस्था' का सीमांकन करता है। यानी, 'आत्मा की मुक्तावस्था' को 'ज्ञान-दशा'के परिसर से बाहर लाकर 'रस-दशा' में रूपान्तरिक कर दिया जाता है। लेखक कॉमनसेन्स से न केवल खुद टकराता है, पाठकों को भी टकराने की अन्तर्दृष्टि देता है। इससे तथाकथित मुख्य धारा की सैद्धान्तिकी कठघरे में खड़ी हो जाती है। 'दूसरी परम्परा', 'दूसरा सौन्दर्यशास्त्र', 'स्त्री-वाद', 'दलितवाद' सबका सम्यक् विखंडन करते हुए, विश्वनाथ जी हमारी परम्परागत समझी जाने वाली मान्यताओं को नयी आलोक-ऊर्जा के साथ प्रस्तुत करते हैं।

इन निबंधों में 'सत्य का आग्रह' गति के साथ और सभ्यता के समानान्तर है। कहीं नीर-क्षीर की बात भी हो सकती है, किन्तु लोकतांत्रिक मनीषा को अनाहत रखकर। लेखक की प्रश्नाकुलता और तर्क-पद्धति का अपना रंग-ढंग है। लेकिन जो दिखाया जा रहा है, वही केवल दृश्य नहीं है। विश्वनाथ जी सिक्के का दूसरा पहलू भी देखते-दिखाते हैं। उनमें समय के कंधे पर सवार होकर नहीं, उसके सामने अपने पैरों के बल खड़े होने की निर्भयता लक्षित होती है, अकेले चलने का साहस भी। कबीर और गाँधी की तरह विश्वनाथ जी सांप्रतिक वर्चस्व की विचारधारा से जूझते हैं। उन्होंने मौजूदा प्रचलित मतवादों को खारिज कर दिया है। घृणा की राजनीति करनेवाले भले बड़े धर्म-धुरन्धर समझे जाते हों, विश्वनाथ जी उनका पर्दाफाश करते हैं। कई बार उनका स्वर विखंडनात्मक भी हुआ है किन्तु वह अपवादस्वरूप ही है। उनका मूल्य स्वर विधेयात्मक है।

इन निबंधों का लेखन रचना और रचनाकार के प्रति गहरी आस्था व्यक्त करता है। वह कसौटियों को अपर्याप्त समझता है। कालजयी कृतियों के सर्जन महान् पूर्वजों के प्रति विश्वनाथ जी का आदरभाव प्रकट नहीं रहता। वाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदास, भवभूति से लेकर आधुनिक काल के रवीन्द्र-निराला-अज्ञेय तक की आत्म-समृद्धि का संज्ञान लेखक को प्रवाह में बह जाने से रोकता है। आज के समय में धर्म, राजनीति, संगठन, संस्थान आदि अप्रासंगिक हो चले हैं। उन्होंने अपना निर्धारित गंतव्य गँवा दिया है। वे लक्ष्य-भष्ट हो चले हैं। उम्मीद बची है तो रचना और रचनाकार से ही। लेकिन जो वस्तुत: लेखक हैं, कलाकार हैं उनका कोई तंत्र नहीं है। "लेखक अपने अन्त:विवेक को जिन्दा रखने के लिए लिखता है या लिखकर अपने अन्त:विवेक को जिन्दा रखता है।" अन्त:विवेक स्वार्थान्ध शक्तियों को असह्य होता है। जो सही में सर्जक होगा, कट्टर नहीं होगा। कट्टरता से तात्पर्य है, मतवैभिन्य के प्रति असहिष्णु होना। स्वतंत्र होना दूसरों की स्वतंत्रता का अनादर करना नहीं है।

इस संकलन का पहला निबंध है- 'राज्य, धर्म, विचारधारा और साहित्य'। ये मनुष्य की जय-यात्रा में सभ्यता के आरंभ से ही अपनी उपस्थिति दर्ज कराते रहे हैं। किन्तु मौजूदा स्थिति आलोचनात्मक है। राज्य, धर्म और विचारधारा मनुष्य की स्वतंत्रता में व्यवधान बन गये हैं। तीनों जनता को लोभ और दंड का भय दिखाकर ललचाते और डराते

आ रहे हैं। हम जिसे मनुष्य की विकास-यात्रा कहते हैं 'वह सत्य की खोज की यात्रा है।' विश्वनाथ जी सत्यान्वेषण की प्रक्रिया में महसूस करते हैं कि 'अंतिम सत्य कुछ नहीं होता।' "पूर्ण और अन्तिम सत्य की बात केवल अवैज्ञानिक ही करते हैं।" लेखक का वस्तुत: अपना कोई तंत्र नहीं होता है क्योंकि तमाम तंत्र अमानुषिक हैं। इसलिए साहित्यकार को इनका विरोध करना पड़ता है। विश्वनाथ जी लिखते हैं, "साहित्य का देश मूल्यों का देश है। इस देश का निवासी कवि (कबीर) बेहद्दी के मैदान में सोता है। कोई सीमा नहीं, कोई दीवार नहीं।" जब कोई प्रेम और एकता की बात करता है, समता और स्वाधीनता की बात करता है तो साहित्य के स्वदेश की ही बात करता है। प्रसंगवश विश्वनाथ जी मार्क्सवाद और मार्क्सवादी आलोचना से अपनी व्यापक सहमति व्यक्त करते हैं। जो लोग 'तटस्थता' का विरोध करते हैं और पक्षधरता तथा प्रतिहिंसा की बात करते हैं, विश्वनाथ जी उन्हें आलोचना का विषय बनाते हैं। "तटस्थ होना उदासीन या निरपेक्ष होना नहीं, बल्कि वस्तुपरक होना है। लेखक तटस्थ रहकर ही स्वराज्य में विचरण कर सकता है।" विश्वनाथ जी की दृष्टि में न्याय के बिन्दु पर स्थित होना ही तटस्थता है।' जो लोग अनास्था और संशय को ही आधुनिकता मानते हैं, उनसे विश्वनाथ जी सहमत नहीं हैं। दुनिया भर में सब समय मनुष्य की आस्था का एक केन्द्र साहित्य रहा है। भारत में तो आरंभ से ही वह मनुष्यता का आश्रय रहा है। विश्वनाथ जी उदाहरण देकर समझाते हैं, "त्रेता में राज्य से निर्वासित होने के बाद पृथ्वी पुत्री को वाल्मीकि के आश्रम में शरण मिलती है और द्वापर में व्यास ही आस्था का केन्द्र हैं।" अकारण ही दुनिया भर के कवियों-शायरों ने अपनेसमय की राज्य-सत्ताओं और धर्मसत्ताओं की उपेक्षा नहीं की है। मौका मिलते ही उन्होंने सर्वशक्तिमान तक को चुनौती दी है। आज विडम्बना यह है कि राजनीति से 'नीति' गायब हो गई है और दुनिया एक बाजार में परिणत हो गयी है। अब जब सब कुछ व्यावसायिक हो गया है तब भी उम्मीद बची है और वह साहित्य से बची है। इसलिए साहित्यकार का दायित्व बढ़ गया है।

विश्वनाथ जी का चिन्तन अपने समय के तमाम अंतर्विरोधों से मुठभेड़ करता है। इसमें साहित्य और साहित्यकार में उनकी अटूट आस्था सहयोग करती है। किन्तु कुछ मामलों में वह मौलिक और नये विचार का प्रवक्ता बना है। मसलन, वेदव्यास, चंडीदास से लेकर सुमित्रानन्दन पंत तक ने 'मनुष्य' को सर्वोपरि माना है। किन्तु विश्वनाथ जी इस स्थापना का जोरदार खंडन करते हैं। वे मनुष्य को ही सर्वोपरि मानने के लिए तैयार नहीं हैं। इससे वह अहंकारी हो जाता है और शेष सृष्टि को अपना दास समझ बैठता है। मनुष्य सृष्टि का स्वामी नहीं है तथापि वह श्रेष्ठ है तो अपने ही बनाये, कमाए और अर्जित किये हुए मूल्यों के कारण, जिनके लिए वह अपने प्राण भी उत्सर्ग कर देता है।' कृतज्ञता ऐसा ही एक जीवन मूल्य है।

विश्वनाथ जी की दृष्टि में मनुष्य से बड़ी है उसकी 'करुणा'। 'करुणा' का अर्थ दया नहीं है। वह 'संवेदनाशीलता है जो एक को दूसरे से जोड़ती है।' 'करुणा भीतरी नमी है। उसके सूखे जाने पर मनुष्य में कोई कल्याणकारी भाव पैदा हो ही नहीं सकता।' करुणा को भवभूति ने विशेष महत्त्व दिया है, संभवत: इसलिए कि कविता को वे 'आत्मा की कला' मानते थे। 'करुणा महाभाव है।' वही श्रेष्ठ साहित्य के उद्‌भव की प्रेरणा और उपजीव्य है। 'करुणा' ही से रचनाकार के भीतर 'शिव' का उदय होता है। विश्वनाथ जी करुणा पर व्यापक विमर्श करते हैं क्योंकि उनका गंतव्य है अनृशंसता। करुणा विकल्प का अवकाश है। 'इसकी भाषा सहज और तरल होती है। करुणा की भाषा मनुष्य के मर्म को छू देती है। वह चित्त को स्थिर करके आत्मा की गहराइयों में झाँकने को विवश कर देती है।' विचार और विचारधारा पर बल देने वाले अक्सर यह तथ्य भूला देते हैं कि 'भाव विचार से अधिक क्रियाशील होता है।' करुणा महाभाव के रूप में कर्म में प्रवृत्ति बन जाती है। यह कर्म का रूप धारण करके बुद्ध और गाँधी का निर्माण करती है। विचारधारा यदि बात बनाने वाले निठल्ले बुद्धिजीवियों के लिए केवल बहस का विषय है तो वह विचारध ारा है ही नहीं। विचारधारा को कर्म में मूर्त होना चाहिए क्योंकि शब्द आचार से ही अर्थवान होते हैं। मतवाद, आदर्श, कल्पना और स्वप्न सिर्फ शब्द-संयोजन के साधन नहीं हैं। विश्वनाथ जी की दृष्टि में "जो साहित्य पाठक के भीतर करुणा पैदा कर सके, मनुष्यता के सोये भाव को जगा सके, वह बेहतर है उस साहित्य से, जो पाठक के मन में सिर्फ विचार पैदा करके रह जाये।" विचारधारा और यथार्थ के नाम पर यांत्रिक और शुष्क साहित्य के उत्पादन से पाठक का अहित होता है। आवश्यकता है 'यथार्थ को राग से पकड़ने की, उसे अनुभूति का विषय बनाने की। श्रेष्ट साहित्य अस्तित्व की गहराइयों में डूबकर, उससे प्राप्त भाषा में ही संभव है।

इस संकलन के तीसरे निबंध में विश्वनाथ जी रचना का केन्द्र विचारधारा को नहीं, संवेदना को मानते हैं। कालजयी रचनाएँ विचारधारा से नहीं संवेदना से अनुप्राणित होकर लिखी गयी हैं। विचारधारा अथवा विचार-पद्धति से संचालित होकर सोवियत लेखकों ने सामाजवादी यथार्थवाद के लक्ष्य को केवल प्रचारित ही किया। मार्क्स के लिए बालजाक और लेनिन के लिए टालस्टाय चुनौती बने रहे। कालिदास हों या शेक्सपियर विचारधारा के प्रशिक्षण के लिए बड़ी चुनौती हैं। वस्तुस्थिति यह है कि रचनाकार एक संवेदनशील, कल्पनाशील और परकायप्रवेश करने में समर्थ, भाषा-संपन्न मनुष्य होता है। यह भी कि 'विचारधारा' को भी रचना बनाने का कार्य सिसृक्षा ही करती है जबकि संवेदना ही लेखक को अनन्तरूपात्मक जगत से जोड़ती है। 'विचारधारा का कर्म से दूर का संबंध होता है जबकि संवेदना कर्म के पीछे रहती है।' चाहे मार्क्सवादी साहित्य हो, स्त्रीवादी या दलित साहित्य हो, विचारधारा के नाम पर खंडित विवेक से परिचालित है और वह साहित्य के स्वभाव, स्वदेश के विरुद्ध है। जो तर्क स्त्रीवाद देता है, लगभग वही, तर्क दलित लेखन

के प्रवक्ताओं के भी हैं। यह सही है कि पुरुष वर्चस्व के कारण स्त्री उपेक्षित हुई है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कवि-लेखक पुरुष है तो उसे स्त्री पर लिखना ही नहीं चाहिए। 'तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्त है नारी की' - यह पंक्ति 'कामायनी' के इड़ा सर्ग की है। इसमें प्रसाद जी ने 'काम' से आकाशभाषित से श्रद्धा के प्रति मनु के व्यवहार की आलोचना की है। विश्वनाथ जी के इस शीर्षक के अन्तर्गत विश्व स्तर पर स्त्री-मुक्ति आंदोलन का संक्षेप में इतिहास भी वर्णित है। स्वयं विश्वनाथ जी ने अपनी दर्जनों कविताओं में व्यापक स्त्री-विमर्श किये हैं। "महाप्रकृति ने स्त्री और पुरुष दोनों को एक दूसरे के पूरक के रूप में विकसित किया है।" इसलिए दोनों पर दोनों को लिखने का पूरा हक है। विश्वनाथ जी दृष्टिकोण यह है कि दलित साहित्य दलित राजनीति से संचालित है। अस्पृश्यता के खिलाफ होने पर भी वे यह नहीं मानते कि सवर्ण लेखक दलित वेदना की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। लिखनेवाला भोगनेवाले से विशिष्ट होता है। उसके भीतर संवेदना और कल्पना होती है, परकायप्रवेश की शक्ति और भाषा होती है। विश्वनाथ जी की दृष्टि में ये रचनाकार की अमोघ शक्तियाँ हैं। वह दूसरों के बारे में जब लिखता है तो सह-अनुभूति के स्तर पर ही भोगता है और भोगने वाला स्वयं भी जब तक अपनी भोग की मनःस्थिति से अलग नहीं होता, कुछ वस्तुपरक नहीं लिख सकता।" विश्वनाथ जी दलित वेदना की गंभीरता और यथार्थ को स्वीकार करते हैं किन्तु गैर-दलितों द्वारा किये गये दलित-विमर्श या लेखन को खारिज कर देना अनुचित मानते हैं।

लेखक का दायित्व कई स्तरों पर निर्धारित किया जा सकता है। किन्तु संक्षेप में, उसके दो स्तर हैं- एक उसका रचना दायित्व और दो - उसका सामाजिक दायित्व। समय और समाज से निरपेक्ष रचना की कल्पना नहीं की जा सकती। विश्वनाथ जी ने सोल्जेनित्सीन का उदाहरण दिया है, जिनका कहना है कि किसी देश में एक बड़े लेखक की उपस्थिति उस देश के भीतर एक दूसरी समानान्तर सरकार के समान है।' विश्वनाथ जी स्वयं विचार करते हैं तो पाते हैं- "दिक् और काल के बीच लिखित शब्द अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होते हैं। किताब का मतलब केवल कागज का पन्ना नहीं है। वह एक इतिहास है, एक आंदोलन है, समाज का उत्थान और पतन है। लेखक रचनाकार के अतिरिक्त एक नागरिक भी है, सामान्य से कुछ अधिक दायित्व के साथ। दुनिया में बड़ी-बड़ी क्रांतियों की प्रेरणा किताबें रही हैं। इसलिए दायित्वहीन न लेखक होगा न लेखन। लेकिन उसकी विशिष्टता स्वयंसिद्ध है। एक की रचना को दूसरा पूरा नहीं कर सकता। यह एक निहायत निजी कर्म है। निजी और अर्थवान।

'राज्यसत्ता और साहित्यकार' के संबंधों को लेकर उन्होंने दोनों में बुनियादी फर्क किया है- 'राज्य का आधार है शक्ति और प्रभुत्व। साहित्य का आधार है मूल्य।' अतः 'जिस दिन मूल्यों की सत्ता स्थापित हो जाएगी उस दिन राज्य की सत्ता समाप्त हो जाएगी।' हमारे जातीय कवियों ने राज्यविहीन समाज की मार्क्सीय कल्पना के उदाहरण रचे हैं।

कबीर का बेगमपुरा, तुलसी का रामराज्य और प्रसाद का मधुमयदेश ऐसी ही कल्पनाएँ हैं। तथापि राज्यसत्ता जिस कवि-लेखक से डरती है उसे खरीदने की चेष्टा करती है। तमाम तरह की उपाधियाँ, पद-पुरस्कार देकर सत्ता लेखक की लोकप्रियता का अपने पक्ष में इस्तेमाल करती है। पुराने समय में इसीलिए संत-भक्त कवि सीकरी जाना नहीं चाहते थे। आधुनिक युग में भी सार्त्र का उदाहरण है जिसने नोबेल पुरस्कार को आलू का बोरा कहकर ठुकरा दिया था। लेकिन भारत सहित दुनिया के अन्य देशों में भी ऐसे साहित्यकार हुए हैं जो राज्यसत्ता के समीप रहे। कालिदास, विद्यापति, बिहारी आदि कई उदाहरण हैं। रचनाकार का स्व-विवेक जाग्रत हो तो दरबार के अन्दर-बाहर आने-जाने से कोई फर्क नहीं पड़ता। जो रचनाकार अपने समय की राज्यसत्ता को इग्नोर कर देते हैं, उन्हें उसके चापलूस इतिहासकार शासकीय रिकार्ड में शामिल नहीं करते। तुलसीदास का उदाहरण है। 'आईने अकबरी' में उनका कहीं जिक्र नहीं। बाद में विसेण्ट स्मिथ ने तुलसी को 'अपने समय का महानतम व्यक्ति' तथा 'अकबर से भी महान' कहा। ग्रियर्सन ने उन्हें 'बुद्ध के बाद भारत का सबसे बड़ा लोकनायक' बताया। विश्वनाथ जी सत्साहित्य के साथ सच्चे कवि-लेखक की गरिमा महसूस करते हैं और निबंधों में ऐसे प्रसंग पुनः पुनः लाते हैं जिन्हें पढ़कर साहित्य और साहित्यकार के प्रति पाठक में आस्था उत्पन्न हो। यह उनका अपने कर्म में विश्वास का भी पक्ष है।

विश्वनाथ जी के इस संकलन में प्रेमचंद, रामचन्द्र शुक्ल, महादेवी, जैनेन्द्र, अज्ञेय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, फणीश्वरनाथ रेणु, निर्मल वर्मा और मुक्तिबोध पर जो निबंध संकलित हैं वे हैं तो व्यावहारिक समीक्षा-सरणी के निबंध किन्तु उनमें विवेचन-विश्लेषण का दृष्टिकोण नया है। एक अलग ढंक की सैद्धांतिकी और अंतर्दृष्टि। अपनी समझ और पसन्द को सैद्धांतिकी में ढालने का उद्यम इनमें प्रभावशाली है। कई बार वह लेखक का आत्म-प्रक्षेपण नहीं तो आत्म-बिम्ब का उपस्थापन जैसा अवश्य प्रतीत होता है।

प्रेमचन्द की लोकप्रियता का मुख्य कारण है उनका विश्वसनीय लेखन। "उनकी अधिकांश कहानियाँ जिन्दगी से ली गयी सच्ची कहानियाँ हैं। वे अपने 'जीवन के वास्तविक चरित्रों को ही अपनी कथा-कृतियों का आधार बनाते थे।" लगभग यही स्थिति फणीश्वरनाथ रेणु की भी है। पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में भी अनेक चरित्र उनके वास्तविक जीवन से लिये गये हैं। 'प्रेमचन्द का प्रत्यक्ष अनुभव संसार है।' उनका "संपूर्ण लेखन एक लेखक के संवेदनशील मन का प्रमाण है।" उनमें जो 'मानवीय संवेदना है उसी के कारण वे अपने चरित्रों को इतनी सहानुभूति दे सके।' उन्होंने 'कभी किसी राजनीतिक प्रतिबद्धता की बात नहीं की है। यदि कभी की है तो गाँधी के साथ अपने को जोड़ा है। लेकिन गाँधीवाद के साथ भी उनमें मन का शत-प्रतिशत मेल नहीं खाता।' विश्वनाथ जी विचार की तुलना में संवेदना को लेखक के लिए अधिक मूल्यवान मानते हैं और सिद्धांत की तुलना में जीवन को। उनकी मान्यता है कि 'एक कलाकार अपने

अनुभव और अपने सहज संवेदनशील मन से जहाँ पहुँच जाता है वहाँ कोई चिंतक और वैज्ञानिक अपनी किताबों और प्रयोगों के द्वारा भी नहीं पहुँच पाता।' प्रेमचन्द गाँधी जी से प्रभावित थे। इसलिए कि महात्मा जी सच्चे दिल से भारत की जनता की सेवा करना चाहते थे। गाँधी जी के साथ-साथ प्रेमचन्द्र टालस्टाय से भी प्रभावित थे। ये तीनों साधन के अतिरिक्त साध्य की पवित्रता पर भी समान बल देते थे। जो नैतिक है, कथनी और करनी में अंतर नहीं करता, जनता का सेवक है, कर्मयोगी है, वही अन्याय से लड़ सकता है, वही सत्याग्रही हो सकता है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी प्रेमचन्द को इसलिए भी पसन्द करते हैं कि वे वर्तमान की चुनौतियों का सामना करते हैं उनके प्रश्न वर्तमान के प्रश्न है।' उनकी दृष्टि में प्रेमचन्द की जिन्दगी जैसे सहज है वैसे ही सहज है उनका लेखन।'

'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना' शीर्षक निबंध में विश्वनाथ जी लिखते हैं- "शुक्ल जी कविता के जौहरी हैं। वे शब्द में झिलमिलाती अर्थच्छाया को जौहरी की निगाह से पहचानते हैं।" शुक्ल जी ने हिन्दी आलोचना को 'लोकमंगल' जैसा पारिभाषिक महत्व का शब्द दिया है। विश्वनाथ जी शुक्ल जी को रसवादी आलोचक मानते हैं लेकिन इससे भी बड़ी बात यह है वे 'कविता को मनुष्यता की उच्च भूमि मानते हैं।' फणीश्वरनाथ 'रेणु' के साहित्य में विश्वनाथ जी सर्वोपरि जिस एक तत्व का संधान करते हैं- वह 'लोक जीवन की लय' है। उनका गद्य जीवन्त है और काव्यात्मक है। 'कलाकार की आँख से देखी जाकर सामान्य चीज भी विशिष्ट हो जाती है। रेणु की आँख अपने अंचल की हर सामान्य चीज को विशिष्ट बना देती है ..... शब्द, गंध और ध्वनि की जितनी बारीक पहचान रेणु को है उतनी बहुत कम कथाकारों की होगी।' 'रेणु सतह के नहीं, अतल के रचनाकार हैं। वे चरित्रों को ऊपर से नहीं, उनके अतल में जाकर छूते हैं। उन्हें ऐसी झंकार देते हैं जो स्मृति में सदा के लिए झंकृत होते रहते हैं। विश्वनाथ जी के निबंधों में जो विशिष्टता लक्षित होती है, उसका यही मुख्य कारण है। वे सतह के नहीं, अतल के आलोचक हैं। उदाहरण के लिए महादेवी के संस्मरणों पर लिखी उनकी समीक्षा द्रष्टव्य है। "जैसे रेणु का गद्य अपनी ध्वनियों की पकड़ और सांकेतिकता के लिए अद्वितीय है वैसे ही महादेवी का गद्य अपनी चित्रात्मकता और काव्यमय संगीतात्मकता के लिए अप्रतिम है। जैसे अज्ञेय के गद्य का वाक्यविन्यास अपनी विशिष्ट पहचान रखता है, वैसे ही महादेवी का गद्य-विन्यास भी सैकड़ों लेखों के बीच अलग से पहचाना जा सकता है। उनके गद्य में जो लालित्य और प्रवाह दिखाई पड़ता है वह बहुत कम लेखकों में मिलेगा। भाषा की भंगिमापूर्ण व्यंजना महादेवी के गद्य को और भी समर्थ बनाती है।" अलक्षित को लक्षित करना भी सार्थक आलोचक-कर्म है - विश्वनाथ जी यह करते हैं और पूरी शक्ति से करते हैं। उन्हीं का कहना है - "महादेवी के ये संस्मरण करुणा की कविता हैं। उपेक्षित जिन्दगी का ऐसा आत्मीय साक्षात्कार किसी साहित्य के इतिहास में बहुत ढूँढने पर मिलेगा।" महादेवी का परिवार मानवेतर प्राणियों तक फैला है। 'मेरा परिवार' की उनकी इस

अवधारणा को विश्वनाथ जी ने 'मनुष्यता की सच्ची अवधारणा' कहा है। महादेवी की कविताओं पर बहुत लिखा गया है, पर उनके गद्य पर काफी कम। श्रेष्ठ आलोचना श्रेष्ठता का अन्वेषण ही नहीं करती, वह रचना की प्रायोजित प्रसिद्धियों का ध्वंस भी करती है।

इस संकलन में एक निबंध जैनेन्द्र पर है- 'विचारक जैनेन्द्र'। विश्वनाथ जी भी मानते हैं कि उनके साहित्य पर गाँधी जी का स्पष्ट भाव है लेकिन मुख्य बात यह नहीं है। मुख्य बात है कि ये 'अन्त तक उनके पीछे-पीछे ही नहीं चलते रहते। उनका रास्ता गाँधी जी से अलग भी हो जाया करता है।' 'जैनेन्द्र न वेदान्ती हैं, न स्यादवादी। वे न गाँधीवादी हैं न समाजवादी। वस्तुतः वे एक भारतीय विचारक हैं और उनके विचारों की भूमि एक दृढ़ नैतिक भूमि है।' 'जैनेन्द्र एक आस्तिक हैं, ईश्वर में विश्वास करते हैं, बुद्धि की अपेक्षा श्रद्धा को महत्त्व देते हैं। पर उनमें धर्म-भावुकता नहीं है। उनका चिन्तक काल्पनिक या अलौकिक का सहारा नहीं लेता। उनका चिंतन लोकव्यवहार के नैतिक स्रोत के रूप में अनुगमनीय है।'

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, मुक्तिबोध और निर्मल वर्मा-संबंधी निबंधों में लेखक का स्वर सत्याग्रही का, सत्य के अनुसंधित्सु का स्वर है। वह प्रगति और विकास को अपने देश-काल के परिप्रेक्ष्य में जाँचता-परखता है और एक मर्यादा की बात करता है। एक ऐसी मर्यादा जो आधुनिक सभ्यता-समीक्षा की जाग्रत कुंडलिनी है। वह अंधी दौड़ का घोड़ा बनने से पाठकों को मना करता है। सोवियत संघ का पतन केवल दृष्टांत नहीं, सबक भी है। वह केवल एक जन-विमुख राज्य-सत्ता का विघटन नहीं है। उसके पतन के बीज मार्क्सवादी चिंतन में हैं। विश्वनाथ जी ने इसके लिए काफी श्रम किया है। उनका श्रम सिर्फ अध्यवसाय तक सीमित नहीं है। इसमें प्रत्यक्ष की अनुभूति है, 'आँखिन देखी' ज्ञान भी संवेदना बना है।

विश्वनाथ जी ने गाँधी को अपने जीवन में पहले आत्मसात् किया है, विचारों में बाद में। इसलिए 'गाँधी की प्रासंगिकता' पर उनका विमर्श प्रभाव के स्तर पर अचूक है। प्रसंगवश, उन्होंने कार्ल मार्क्स को भी याद किया है- "दार्शनिकों ने केवल विभिन्न रूपों में दुनिया की व्याख्या की है, लेकिन असली काम तो इसे बदलने का है। कहना न होगा कि 'बीसवी सदी में यह काम गाँधी ने किया।" सिर्फ इसलिए नहीं कि उन्होंने 'मौलिक अधिकार' दिया, इसलिए भी कि उन्होंने 'सनातन भारतीय दृष्टि का पुनराविष्कार किया।' 'हिन्द स्वराज' गाँधीवाद का बीज विचार है। उसमें जिस शैतानी सभ्यता की समीक्षा हुई है, विश्वनाथ जी लगातार उसके उत्खनन में सक्रिय हैं। उनके पास विकल्प है- भारतीय चेतना और स्वदेशी आधुनिकता।

इस पुस्तक में एक लेख है- 'कविता का संप्रेषण'। इसमें चिंता का केंद्रीय विषय है- काव्य और पाठक के बीच की बढ़ती दूरी। यह पूरी तरह मिटाई नहीं जा सकती।

कविता की प्रकृति इसका मुख्य कारण है। विश्वनाथ जी लोकप्रियता को काव्य-मूल्य नहीं मानते न नितांत समसामयिकता का दबाव ही स्वीकार करते हैं। तथापि कविता और पाठक के बढ़ते फासले को कम करने के लिए वे कवि-कौशल की अपेक्षा रखते हैं। शायद इसलिए कि वे स्वयं एक समर्थ कवि हैं। यद्यपि इस दूरी को कम करने का कोई आसान नुस्खा नहीं है। 'केवल भाषा के सरल कर देने से ही कोई कविता प्रेषणीय नहीं हो जाती, न यही कहा जा सकता है कि सरल शब्दों में गंभीर अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।' कविता से पाठक की दूरी को कम करने के उपायों पर विश्वनाथ जी ने गंभीरता से विचार किया है। वे लिखते हैं, "वस्तुतः यदि कविता को मानव प्रकृति की गहरी पहचान है, उसमें परकायप्रवेश की क्षमता है, उसका अनुभव वास्तव में संसार से जुड़ा है, तो उसकी कविता को पाठक तक पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं होती। जिस रचना में पाठक को अपनी तसवीर नहीं मिलती, वह अपनी जीवनानुभूतियों को पुनः प्राप्त नहीं करता, उस रचना को पहचानने में पाठक अपने को असमर्थ पाता है। जिस कविता का अनुभव कृत्रिम और छद्म होता है, उसका संप्रेषण नहीं हो पाता। मगर जो सहज और वास्तविक है, वह कितना भी जटिल हो, उसका संप्रेषण हो ही जाता है।"

संक्षेप में, यह पुस्तक रचना की भारतीय अवधारणा के पुनराविष्कार पर बल देती है। इसका गद्य-शिल्प अनूठा और प्रभावाभिव्यंजक है। इसमें ज्ञान और संवेदना के समग्र से संवाद का प्रयास हुआ है। पाठक शुरू से अंत तक इसका हमसफर बने तो वह स्वयं को बदले हुए मनुष्य के रूप में महसूस कर सकता है। यह इस पुस्तक की सार्थकता होगी और पाठक की उपलिब्ध भी।

❑❑❑

पहला पाठ

मधुकर सिंह

मधुकर जी एक ऐसे कथाकार थे जो रेणु एवं नागार्जुन की राह पर चलते हुए, दलित, मजदूर एवं किसान के सरोकारों को अपने जीवन का सरोकार बना लिया। मधुकर सिंह की पहचान एक यथार्थवादी कथाकार के रूप में है। इनके कथा साहित्य का एक सामजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य है। इनके अधिकांशतः कहानियों का आधार गाँव एवं उसके अंदर की ढाँचागत विसंगतियाँ हैं। इसी क्रम में लेखक की एक कहानी 'पहला पाठ' उनकी श्रद्धांजलि स्वरूप इस अंक में प्रस्तुत है। इस कहानी के माध्यम से लेखक रूढ़िग्रस्त व्यवस्था के विरुद्ध छोटे फलक पर ही सही संघर्ष का आगाज करता हुआ दिखता है, और यही है लेखक का 'पहला पाठ'।

रामरतन बैलगाड़ी से ही बनगाँव प्राइमरी स्कूल के सामने उतरा तो गाँव में हलचल मच गयी कि स्कूल में छः महीने बाद नये पंडीजी आये हैं। जब से स्कूल की मंजूरी मिली है तब से रामरतन यहाँ का तीसरा शिक्षक है। गाँव में दो और शिक्षकों की जगह थी। परंतु अभी तक एक ही शिक्षक यहाँ रहा है। दो शिक्षक कागज पर ही थे। इसके पहले जो शिक्षक अपना तबादला कराकर यहाँ से चला गया था उसके बाद से कोई नहीं आया था। छः महीने गुजर गये थे। शिक्षा अधीक्षक के यहाँ गाँव के कुछ उत्साही युवकों ने काफी दौड़ लगायी थी। उन्हें बराबर एक ही जवाब मिलता था, आप लोगों से अधिक सरकार को चिंता है। शिक्षकों की नयी बहाली होते ही तीन शिक्षक वहाँ भेजे जाएँगे। रामरतन को तीन-चार दिन पहले चिट्ठी मिली थी। उसे पाँच दिनों के भीतर योगदान कर लेने के लिए आदेश दिया गया था। रामरतन के साथ उसकी औरत और बेटी भी थी। गाँववालों को देखकर अचरज भले हो, परंतु रामरतन के सामने लाचारी थी। दो-तीन साल से ट्रेनिंग करने के बाद शहर में पड़ा हुआ था। बारह साल की बेटी हुई तभी उसने नसबंदी करा ली थी। पता नहीं, बेराजगारी जिन्दगी-भर के लिए रह गयी तो सूअरों के बच्चों जैसी टोली का पालन कहाँ से करेगा। ट्यूशन करके बेटी-औरत को पाल रहा था। यहाँ तो संयोग ही था कि ट्रेनिंग करने के तीन साल के भीतर उसे नौकरी मिल गयी थी और बनगाँव प्राइमरी स्कूल उसके लिए पहली जगह थी। उनके पास सामान इतना कम था कि लग ही नहीं रहा था कि इनकी कोई निजी दुनिया भी है। महज छोटे-छोटे बक्शे थे, एक बिस्तर

और तीन गट्ठरों के अन्य सारे समान। कई लोगों को हँसी भी छूट रही थी कि पंडीजी नौकरी करने आये हैं या बेटा-बेटी लेकर तीर्थ करने आये हैं। अब तक तो ऐसे ही पंडीजी यहाँ रहे हैं जो शनिवार को घर भागते हैं तो सोमवार को शाम तक लौटते हैं। कभी-कभार तो हप्ता भी लगा देते थे। स्कूल के सामने जब बैलगाड़ी खड़ी हुई तो एक-दो लोगों ने पूछा भी, 'आप एतवार को भी घर नहीं जाएँगे क्या?' रामरतन ने बड़ी सरलता से हँकर सिर हिला दिया था, 'नहीं, जी। मैं यहाँ से कभी नहीं जाऊँगा।'

रामरतन, उसकी औरत और बेटी बैलगाड़ी से सामान उतारकर काफी देर से भौंचक खड़े थे। स्कूल के कमरे में ताले लगे थे और बरामदा पुआल और घास-भूसा से भरा हुआ था। रामरतन देर से अकबकाया हुआ था। कुछ समझ में नहीं आता, यही स्कूल है, या किसी के दुआर पर भटक गया है। तभी एक आदमी ने उसे टोका, 'शुभ स्थान कहाँ पड़ता है पंडीजी?'

'गनपत टोला'।

'अपना नाम क्या पड़ेगा?'

'रामरतन।'

'रामरतन!' वह आदमी चौंका। आगे-पीछे कुछ नहीं?

'जी, सिर्फ रामरतन महतो।'

'अच्छा, रामरतनजी। अभी आप आये हैं। आराम कीजिए।' वह आदमी चला गया।

रामरतन को हँसी भी आयी। कैसा बनैल गाँव है! जैसा नाम वैसा गुण। गजब चलन है। जो भी स्कूल में आया वह बच्चों से लेकर बूढ़ों तक के लिए पंडीजी हो जाता है। रामरतन को इसी के चलते कुछ लोग पंडीजी कहते हैं। उस आदमी के मुँह से अचानक अपना नाम रामरतन सुनकर उसे थोड़ा अचरज भी हुआ था। परन्तु काफी देर तक अपना भविष्य अंधेरे में खड़ा देखकर स्कूल को ताकता रहा। फिर वह बेटी और औरत के साथ पुआल और खर-पात को एक बगल समेटकर बैठ गया।

धीरे-धीरे शाम हो गयी और शाम के बाद अचानक रात भी होने लगी। तब उन तीनों ने महसूस किया कि भूख जोरों से लगी है। उन्होंने बक्शा खोलकर घर का चना निकाला। स्कूल के कुएँ पर बाल्टी पड़ी थी। उन्होंने चना खाकर भरपेट पानी पी लिया और पुआल में घुसकर उस रात चुपचाप सो गए।

सुबह कोई एक दर्जन बच्चे कुएँ के पास इकट्ठा होकर उन्हें तमाशा की तरह घूर रहे थे। रामरतन ने अनुमान किया वे सारे-के-सारे स्कूल के ही बच्चे होंगे। छः महीने से पढ़ाई-लिखाई छूटने से उनके भीतर हलचल है। जब वह उनकी तरफ बढ़ा तो बच्चे धीरे-धीरे भागने लगे। रामरतन को हँसी आयी, भइया रामरतन! किस टापू में ससुरे डिप्टी

ने बदली करा दी है।

एक लड़के को छोड़कर सभी भाग गये थे। 'तुम लोग भाग क्यों रहे हो?' उसने पूछा।

'मुखिया जी मारते हैं।'

'कौन मुखिया जी?'

'बनवारी मिसिर।'

'काहे मारते हैं, बनवारी मिसिर?'

'कहते हैं उनका पुआल नुकसान होता है। किसी साले को स्कूल पर देखे लें तो टाँग काट लें।'

'ऐसी बात है?' रामरतन ने घबड़ाकर आँखें बड़ी कर लीं।

'हाँ, जी। इसीलिए तो हम उधर ताकते भी नहीं।'

'तुम लोग मुझे देखकर भागते क्यों हो?'

'पहले वाले बहुत मारते थे।'

'मैं नहीं मारूँगा।' रामरतन हँस दिया।

'आप हमारे नये पंडीजी हैं न?'

'पंडीजी नहीं, मैं तुम्हारा नया शिक्षक हूँ।'

'शिक्षक क्या होता है - मास्साहेब जी न?'

'हाँ, जो शिक्षा देता है, जो तुम्हें नया चिराग देता है। मुझे आज से पंडीजी मत कहना।'

लड़का उसे ताकने लगा। ये नये पंडीजी पहले की तरह न क्रूर लगते हैं न उतने अनजान ही, जिससे वे आज तक डरते रहे हैं।

'आप हमें कहाँ पढ़ायेंगे, मास्साहेब जी?' लड़के ने निकट आकर पूछा।

'स्कूल में और कहाँ?'

'स्कूल में तो मुखिया जी का भूसा रहता है। वे किसी को भी अंदर घुसने नहीं देते। और हमलोग वहाँ बगीचे में पढ़ते थे। पिछले पंडीजी ने उन्हें भूसा रखने के लिए स्कूल हमेशा के लिए दे दिया है।'

'वे कहाँ रहते थे?'

'मुखियाजी के दरवाजे पर और कभी-कभी बगीचे में।'

'बगीचे में! रामरतन मन-ही-मन फुसफुसाया। लगता है, बनवारी मिसिर गाँव के सबसे बड़े और प्रतिष्ठित आदमी हैं। इसीलिए बच्चों तक में आतंक है। तब अपने गाँव की तरह यहाँ भी उसी तरह उनका आतंक है क्या?'

'और कुछ यहाँ के बारे में बताओ, मेरे बेटे।' रामरतन ने पूछा।

'गर्मियों में यहाँ बहुत लोग रात में सोते हैं। रात-भर ताश खेलते और गंजा पीते रहते हैं।'

'बिजली रात-भर जलती है।'

'हाँ!' लड़का बोला, 'कोई बिजली जलाने से मना नहीं करता।'

'तब यहाँ शिक्षकों के रहने का घर भी नहीं है?'

'हाँ क्यों नहीं? वहाँ कुएँ के पिछवाड़े, सामने वाला। परंतु उसमें तो सुदामा सिंह की भैंस और नौकर रहते हैं। आप कहाँ रहेंगे?'

रामरतन ने इसका कोई जवाब नहीं दिया और माथा पकड़कर बहुत देर तक सोचता रह गया।

कई दिनों तक उसका माथा काम नहीं कर रहा था कि क्या करना चाहिए। घर-घर घूमकर बच्चों को स्कूल आने के लिए निहोरा करता रहा। धीरे-धीरे लड़के इकट्ठा होने लगे। बनवारी मिसिर के दुआर पर सारी कुर्सियाँ पड़ी हुई थीं। परंतु वह अकेला था, दो और शिक्षकों को बनगाँव में योगदान करने के लिए आदेश हुआ था। लेकिन वे अभी तक पहुँचे नहीं थे। रामरतन को पता है कि वे अपने गाँव के आसपास बदली के लिए पैरवी कर रहे थे। रामरतन के लिए यहाँ या वहाँ- कहीं भी कोई फर्क पड़नेवाला नहीं था।

वह सुबह-सुबह बनवारी मिसिर के दुआर पर पहुँचा। मिसिर जी नाराज थे - दस दिन से भी ऊपर हो गये इस मास्टर को गाँव आये हुए। ऐसा अभिमानी है कि दुआर पर झाँकने तक के लिए नहीं आया। जिसतिस से मिसिर जी बोल भी आये थे कि यह रामरतन महतो नक्सलाइट है। परम्परा, धर्म का इसे कोई ख्याल नहीं है। सबसे बराबरी की बात करता है। इस मास्टर से जरा होशियार रहने की जरूरत है। सुदामा सिंह रामरतन को देखते ही नाक-भौं सिकोड़ लेते हैं। दूसरी तरफ सबों को हैरानी इससे भी थी कि यह नया मास्टर दरवाजे-दरवाजे घूमकर लड़कों को बटोरता चलता है। इसके पहले तक कोई ऐसा मास्टर नहीं था जो दूसरों के बच्चों के लिए चिंता-फिकिर करे। स्कूल में ऐसे भी लड़के-लड़कियाँ आने लगे थे जिनके माँ-बाप को स्कूल नाम से ही कोई जिज्ञासा नहीं थी। कुएँ के पिछवाड़े आम के पेड़े के नीचे गाँव-भर के लड़के भर जाते थे। रामरतन के गाँव आने के दूसरे दिन से ही लोग अपने लड़के भेज रहे थे। रामरतन ने गाँव आने के दूसरे दिन से ही आम के पेड़े के नीचे पढ़ाई शुरू कर दी थी। स्कूल ठीक समय से साढ़े दस बजे लगता था

और चार बजे शाम को छुट्टी हो जाती थी। गाँव-घर के लिए यह भी एक नयी बात थी। दो-चार बुद्धिमान लोग आपस में मजाक भी करते थे कि इस तरह पढ़ाई चलती रहे तो गाँव के सारे लौंडे विद्वान बन जायें। सभी कुत्ते काशी चले जायें तो हड्डी कौन ढूँढ़ेगा? यह सब खबर रामरतन को भी मिलती थी। लेकिन वह अभी तक यहाँ के लोगों को समझ नहीं पाया था, इसलिए कोई जवाब नहीं देता था। एक और खबर सुनकर उसे ताज्जुब हो रहा था। सुदामा सिंह कहते हैं यह नया स्कूल मास्टर मर्यादाहीन आदमी है। बेटी-बहू को लेकर चलने की क्या जरूरत थी? उस टेढ़ी माँगवाली औरत को देखते ही मैं समझ गया था कि इसकी औरत खानदानी नहीं है। और खानगी है - खानगी? रामरतन का मूड सुनते ही गरम हो गया था। लेकिन परिस्थितियों की नासमझी के कारण परहेज कर रह गया। सुदामा सिंह कैसा बेशर्म आदमी है। उसकी कोई बहू-बेटी है कि नहीं! .....

'कहिए मास्साहेब, कैसे आना हुआ है?' बनवारी मिसिर ने टोका।

'एक निवेदन था, मुखिया जी!' रामरतन ने दोनों हाथ जोड़ लिये, जैसे वह भीख माँग रहा हो। 'सोमवार को डिप्टी साहब आनेवाले हैं।'

'तब मुझे क्या आज्ञा है।'

'स्कूल खाली करवा देते।'

बनवारी मिसिर मुँह फाड़कर हँस पड़े।

'कल सफाई हो जाएगी। बस, यही न? कि और कुछ?'

'मैं कहाँ रहूँगा। उसमें तो सुदामा सिंह जी की भैंस बँधी हुई है।'

'उनसे भी कहता हूँ।'

बनवारी मिसिर ने इतना ही किया कि बरामदे से घास-पुआल निकलवा लिया, मगर कोठरियों में ताले ज्यों-के-त्यों पड़े रहे। सुदामा सिंह ने तो दौड़ाते-दौड़ाते मार डाला। बड़ी मुश्किल से कोठरी खाली की। रामरतन, औरत और बेटी ने मिल-जुलकर बरामदे और अपने रहने की कोठरी को साफ किया। गाँव के कुछ लोग खड़ा-खड़ा तमाशा देख रहे थे - यह नया मास्टर भी पता नहीं किस जंगल से आया है। दुनियादारी में एकदम अबोध है, निरा बुद्धू। गाँव का आदमी इतना अबोध और मूर्ख नहीं रह गया है। मिसिर जी इसे नक्सलाइट कहकर गाँव के गरीबों का मजाक क्यों उड़ाते हैं? अच्छा तमाशा है। जिस गरीब आदमी से बला लेना हो या सताने की ही तबीयत हो, तो बस पुलिस में उसका नाम नक्सलाइट बता दीजिए और लूट-खसोट करने के लिए निश्चिंत हो जाइये। रामरतन के गाँव गनपत टोला में भी थोड़े बड़े और बाबू किस्म के लोग रोज निर्दोष आदमियों को पुलिस के मेल से जेल भेजवा रहे हैं। कहीं मिसिर जी की भी रामरतन के खिलाफ कोई साजिश तो नहीं चल रही है? अबोध और सरल रामरतन पर गाँव के ज्यादातर लोगों को

दया हो आती है। मिसिर और सुदामा सिंह एक दिन रामरतन की नौकरी चबाकर रहेंगे। उन्हें बरामदे और कोठरी से निकलवाना हँसी-मजाक है क्या? अब तो और जोर-जोर से उसे नक्सलाइट कहेंगे - नक्सलाइट रामरतन मास्टर।

मन-ही-मन लोग रामरतन के पक्ष में भी होने लगे थे। रामरतन का ध्यान बच्चों की पढ़ाई की ओर ज्यादा था, स्वयं के प्रति और बनगाँव की राजनीति की ओर तो बिल्कुल नहीं : लड़कों पर किसी तरह के दबाव की जरूरत नहीं थी। वे समय के पहले ही स्कूल की ओर भागते थे। पहली बार उन्हें भरोसा हुआ था कि उनके लड़के भी कुछ अधिकार से पढ़ाई-लिखाई कर सकते हैं और रामरतन भी पहला स्कूल मास्टर है जो उन्हें सबसे पहले 'बच्चा' बुझ रहा है। कहीं ऐसे आदमी के खिलाफ मिसिर जी सचमुच में आँधी-तूफान खड़ा कर तबादला न करा दें। फिर तो इन बच्चों पर ध्यान देनेवाला पता नहीं कब आएगा। ..... इनके बच्चे आदमी बनने लगे हैं तो मिसिर जी, सुदामा सिंह चिढ़ते क्यों हैं? .... ये लोग मास्साहेब को नक्सलाइट कहकर हमारी ओर तो इशारा नहीं कर रहे हैं?

जिस दिन डिप्टी साहब आने वाले थे उस दिन रामरतन ने सुदामा सिंह और बनवारी मिसिर के अलावे दूसरे लोगों को भी स्कूल पर बुलवा लिया था, जैसे बनगाँव प्राइमरी स्कूल का पहला वार्षिकोत्सव हो। घंटी लगते ही लड़के बरामदे के नीचे कतार में खड़े हो गये थे। रामरतन आगे-आगे पंक्ति दुहराता था। स्कूल के पहले पाठ की शुरूआत यहीं से होती थी और लड़के मग्न होकर गाने लगते थे:

जागी रे मजदूर-किसान
रात गयी अब हुआ विहान
किरणों की आहट पाकर कमलों ने आँखें खोलीं
ताकत नयी हवा से पाकर गूँगी लहरें बोलीं
भौंरा बन सब ओर गूँजता परिवर्तन का गान-
जागो रे .....
खोने को हथकड़ियाँ, पाने को है दुनिया सारी
गूँज रही हैं दसों दिशाएँ होगी विजय तुम्हारी
चलो साथियों चलो जल रहा सारा हिन्दुस्तान
जागो रे .....

बनवारी मिसिर और सुदामा सिंह आपस में बुदबुदाने लगे वे ताव में आकर रामरतन की हर निष्ठा को गलिया रहे थे - यह मास्टर लड़कों को हड़ताल का गाना सिखा

रहा है। .... बनगाँव में बलवा कराएगा। डिप्टी साहब से भी उन्होंने रामरतन की भरपेट शिकायत की। डिप्टी साहब आश्वासन देकर चले गये थे कि रामरतन के तबादले की सिफारिश वे जरूर करेंगे। गाँव में बनवारी मिसिर अब से खुल्लम-खुल्ला प्रचार करने लगे कि मास्टर नक्सलाइट है और बनगाँव में बलवा कराना चाहता है। उसकी औरत-बेटी का भी चाल-ढ़ाल ठीक नहीं है। सभी मरद से हँस-हँसकर बतियाती रहती है। ..... लड़के-लड़कियों को गाना और नारा सिखलाया जाता है। लड़के बिगड़कर माटी हो जाएँगे। ..... लेकिन गाँव के सारे लोग बुद्धू नहीं थे। पिआर राउत ने साफ-साफ कह दिया कि मास्साहेबजी ने बनवारी मिसिर और सुदामा सिंह से स्कूल खाली करवाया है, इसीलिए नाराजगी है। स्कूल की कोठरी में उनकी भैंस बँधेगी तो राउत की काहे नहीं बँधेगी? स्कूल विद्या का मन्दिर है कि भैंस का बथान ....? हम तो अपने लड़कों को स्कूल भेजेंगे। वैसे भी मिसिर जी और सुदामा सिंह अपने लड़कों को स्कूल कहाँ भेजते हैं? उनका तो विश्वास है कि हमारे लड़कों के साथ उठने-बैठने से उनके लड़के खराब हो जाएँगे। हम गंदे लोग हैं! गंदे लोगों की नाराजगी अभी उन्हें मालूम नहीं है .....।

एक दिन तो एक भी लड़का स्कूल नहीं आया। परंतु रामरतन के घर-घर पहुँचने का असर होता था। दूसरे दिन दस-पंद्रह लड़के आये थे। इसके बाद से धीरे-धीरे सभी आने लगे थे। रामरतन की जो उदासी अचानक बढ़ी थी वह धीरे-धीरे गायब होने लगी थी। पिआर राउत ने उसे बड़ा ढाढ़स दिया था। पिआर मौलामस्त जीव था। उसे भी स्कूल की प्रार्थना बहुत अच्छी लगती थी। वह अपने लड़के से पूछ-पूछकर सीख गया था। उसने रामरतन से कहा, 'मास्साहेब जी, आपका गाना बड़ा जोशीला है। जी करता है अपने लड़के से बराबर गवाते रहें।'

रामरतन हँस दिया। 'आपको मेरी बातें अच्छी लगती हैं?'

'सपने जरूर आने लगे हैं, मास्साहेब जी। मगर आपको भी नहीं मालूम कि मजूर-राज कब आएगा? मेरा बेटा तो कहता है, मास्साहेब जी बताते हैं कि बहुत जल्द आएगा। सचमुच?'

रामरतन ने सहमति में सिर हिला दिया था।

एक रोज लड़के गर्मियों में स्कूल आये तो देखा, मास्साहेब जी के सिर पर पट्टियाँ बँधी हैं और वे बरामदे से नीचे कुर्सी लगाकर उदास बैठे हैं। घटना यों हुई थी कि रात रामरतन पिआर के यहाँ से लौटकर कुएँ के पास अँधेरे में खड़ा था और अपनी बेटी को बुलाकर बाल्टी माँग रहा था। तभी तीन-चार लोग आये और रामरतन पर लाठियाँ छोड़ने लगे। रामरतन गिर पड़ा था। औरत और बेटी रोने-चीखने लगी थीं। आसपास से आदमी जमा हो गये थे। पिआर राउत ने होशियारी की, जो बगल के डाक्टर को बुलाकर मलहम-पट्टी करा दिया।

लड़के हैरत में डबडबायी आँखों से काफी देर तक रामरतन को ताकते रहे। ऐसी स्थिति में बच्चों की तरह वह रो पड़ा था। मास्साहेब को रोते देखकर अधिकांश लड़के भी सिसकने लगे थे। रामरतन से जो इन्हें अपनापन मिला था इस वजह से भी वे काफी विचलित थे।

'तुम लोग रो रहे हो, मेरे बच्चो!' रामरतन उठकर अपने और उनके भी आँसू पोंछता जा रहा था। 'तुम्हें क्या बताऊँ, मेरा इस बनगाँव में कौन दुश्मन है। असल में वह दुश्मन इस रामरतन महतो का नहीं, हमारी, तुम्हारी खुशियों का है। वह जान गया है कि तुम और तुम्हारे माता-पिता की नासमझी मिटने लगी है।'

'उस दुश्मन का नाम हमें भी बता दीजिए न, मास्साहेब जी?' जोर से सिसकते हुए सुखराम बोला।

रामरतन ने मुस्कुराने की कोशिश की। 'इसका मतलब हुआ कि लोग मुझे यहाँ नहीं चाहते। मुझसे दुश्मनी का आखिर क्या मतलब हो सकता है? मैं तुम्हारा गाँव छोड़कर जा रहा हूँ, मेरे बच्चो! .....'

बच्चों ने कतार तोड़कर ऐसे घेर लिया, जैसे रामरतन अभी जा रहा हो। वे चारों तरफ से चिल्लाने लगे, 'हम आपको नहीं जाने देंगे ..... नहीं तो हम आपके साथ चलेंगे .....।'

यह बात मामूली-सी जरूर है कि चोर-गुण्डे मास्साहेबजी के यहाँ बुरी नीयत या चोरी के लिए ही आये होंगे। गाँवों में ऐसी घटनाएँ प्रायः होती रहती हैं। उनकी वजह से मास्साहेबजी का गाँव छोड़कर जाना एकदम बुजदिली है। लेकिन पिआर राउत इसे मामूली बात कहकर टालने के लिए बिलकुल तैयार नहीं था। मास्साहेब जी की पढ़ाई ही नयी तरह की है, इस वजह से कुछ लोगों को बुरा लगता है। गाँव के अधिकांश लोगों ने भी रामरतन को समझाया, 'गाँव छोड़ने की जरूरत नहीं है। हमारे लड़कों को जो पाठ आपने पढ़ाया है उसे आपके जाते ही वे भूल जाएँगे। हम किसी भी हालत में आपको जाने नहीं दे सकते। डिप्टी साहब आपका तबादला कर भी दें तब भी नहीं। हमारे लड़कों को भी भरोसा है कि आप इस गाँव को छोड़कर कहीं नहीं जाएँगे।'

रामरतन को तबादले की चिंता नहीं थी। वह तो कहीं भी नौकरी कर सकता था। लेकिन दो-चार लोग जो गाँव में बलवा की कल्पना से भयभीत हैं उसने उत्तर के लिए उसका रहना जरूरी था।

इस घटना के एक सप्ताह बाद मिसिर जी का एक आदमी आया और बोला, 'मास्साहेब जी। मुखिया जी का कहना है कि अभी गर्मियों के दिन हैं। लड़कों को बगीचे में पढ़ाइये। खलिहान से भूसा उठवाकर बरामदे में रखवाना है।'

रामरतन ने इसका कुछ जवाब नहीं दिया। बात दो-चार दिनों के लिए टलती चली गयी। परंतु दोबारा मिसिरजी का भाई सुदामा सिंह को लेकर आया और उस पर गरमाने लगा।

'यह स्कूल है, मिसिर जी। गोशाला नहीं है।' रामरतन ने जवाब दिया।

स्कूल का समय हो रहा था। लड़के धीरे-धीरे आने लगे थे। वे आते ही प्रार्थना के लिए पहले कतार में खड़े हो जाते थे; परंतु अभी वे रामरतन के चारों तरफ गोलबंद हो रहे थे। जब मिसिर जी के भाई ने रामरतन पर हाथ छोड़ दिया तो लड़के मास्साहेबजी के अपमान को बर्दाश्त नहीं कर सके और अपनी जान की परवाह न करते हुए उस 'दुश्मन' पर बाज की तरह टूट पड़े। सुदामा सिंह घर से बंदूक लाने के लिए दौड़े। इसके पहले बच्चों के घरवाले सौ-डेढ़ सौ के करीब लाठी, भाले, बर्छे के साथ स्कूल पर आ गये थे। निश्चिंत और निर्भीक रामरतन ने मुस्कुराते हुए पहला पाठ शुरू कर दिया और लड़के कतार में खड़े होकर पीछे से दुहराने लगे:

जागो रे मजदूर-किसान

रात गयी अब हुआ विहान .....

वे सीना तानकर खड़े हो गये थे। उन्हें सुदामा सिंह की बन्दूक की प्रतीक्षा थी।

❑❑❑

बिहार के लोक साहित्य में 1857 की अनुगूंज

डॉ० ध्रुव कुमार

देश के प्रायः सभी हिस्सों में साहित्यकारों ने 1857 की क्रांति को कलमबद्ध किया और यह सिलसिला आज भी जारी है। साहित्यकारों की यह कोशिश "नाथ और अनाथ" उन क्रांतिकारियों के लिए न सिर्फ पुण्य स्मरण है जिनकी कुर्बानियों ने आजाद भारत के सपनों को जमीन पर उतारने में मदद की, बल्कि नई पीढ़ी के लिए उनके योगदान की यादों को ताजा करने में भी सहायक है।

कहा जाता है कि इतिहास समय सापेक्ष होता है, इसलिए उसे कुरेदने की जगह आज के संदर्भ में समझने-जानने की आवश्यकता पड़ती है लेकिन यह भी सच है कि इतिहास में सब कुछ सत्य नहीं होता। इतिहास में ज्यादातर तथ्य होता है। अधिसंख्य इतिहासकार पसंदीदा तथ्य को आधार मानकर अपनी इच्छानुसार तर्क की सूरत गढ़ते हैं और सच्चाई का आभास पाने के लिए अपनी-अपनी शैली में उस पर रंग-रोगन करते हैं। भारतीय इतिहास में 1857 के अध्याय के साथ ऐसा ही हुआ है। आज से लगभग 158 वर्ष पहले 1857 में ब्रिटिश हुकूमत को एक वास्तविक विद्रोह का सामना करना पड़ा तथा उसके शासन को सख्त धक्का लगा। इधर इस घटना ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता के विभिन्न आंदोलनों में उत्तेजना पैदा की। विशेष रूप से आनेवाले वर्षों में विद्रोह के सभी प्रयत्नों को 1857 की परंपरा से नैतिक बल मिला। कहते हैं कि जब कोई देश गुलाम होता है तो सबकुछ परतंत्र हो जाता है। स्वतंत्र चिंतन और लेखन अवरुद्ध हो जाता है। देश की सभ्यता, संस्कृति खतरे में पड़ जाती है। देश के रीति-रिवाज, संस्कार, मन के भाव परतंत्र हो जाते हैं। ऐसे में सब की निगाहें कलमकारों पर आकर टिक जाती हैं।

आमतौर पर माना जाता है कि साहित्यकार अपनी रचनाओं में अपने समय और समाज की महत्त्वपूर्ण प्रवृतियों को रेखांकित करते हैं और अपने दौर के परिवेश की नब्ज टटोलते हैं। कोई रचनाकार अपने समय और समाज की किन-किन प्रवृतियों को महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक मानता है यह उसकी विचारधारा, मानसिकता

और दृष्टि पर निर्भर है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने नाटक "भारत दुर्दशा" में लिखा है– "भारत की समस्याएँ बड़ी दुखदायी हैं। भय से लोगों की आँखों तले अंधेरा है। वह गरीब तथा कंगाल है। ब्रिटिश शासन में हर प्रकार का आराम और सौभाग्य प्राप्त है लेकिन देश के धन को लूट कर बाहर ले जाया जा रहा है। महंगाई, बीमारी तथा मौत ने नाक में दम कर रखा है। दुख प्रतिदिन बढ़ रहा है। इस पर करों का बोझ और अत्याचार ढो रहे हैं। आह! कठिनाइयों ने भारत को परास्त कर रखा है।"

भारतेन्दु के पहले और उनके बाद के साहित्यकारों ने देश की विपन्नता पर देश का ध्यान आकृष्ट किया है। स्वयं मुगल साम्राज्य के अंतिम सम्राट बहादुर शाह जफर ने अपनी कविताओं में देश और देशवासियों की पीड़ा को व्यक्त किया है। देश के प्रायः सभी हिस्सों में साहित्यकारों ने 1857 की क्रांति को कलमबद्ध किया और यह सिलसिला आज भी जारी है। साहित्यकारों की यह कोशिश "नाथ और अनाथ" उन क्रांतिकारियों के लिए न सिर्फ पुण्य स्मरण है जिनकी कुर्बानियों ने आजाद भारत के सपनों को जमीन पर उतारने में मदद की, बल्कि नई पीढ़ी के लिए उनके योगदान की यादों को ताजा करने में भी सहायक है।

इन्हीं सद्प्रयासों में हाल ही में प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ० रामशोभित प्रसाद सिंह द्वारा संपादित पुस्तक– "1857 का स्वतंत्रता संग्राम और बिहार का लोकसाहित्य" प्रकाशित हुई है। श्लोक प्रकाशन द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक में बिहार की सभी पाँच आंचलिक भाषाओं– भोजपुरी, मैथिली, मगही, अंगिका और बज्जिका के अलावा झारखंड की भाषाओं के लोक साहित्य पर केन्द्रित 18 आलेख हैं। इनमें सर्वाधिक भोजपुरी भाषा से संबंधित–छह, बज्जिका भाषा पर केन्द्रित–चार, अंगिका के लोक साहित्य पर – तीन, मगही और मिथिला के लोक साहित्य से संबंधित दो–दो और झारखंड का लोक साहित्य और स्वाधीनता की पहली क्रांति पर केंद्रित एक आलेख संकलित है।

समीक्षा पुस्तक में बिहार और झारखंड की भाषाओं में 1857 से संबंधित रचित लोक साहित्य के विपुल भंडार को सहेजने–समेटने की कोशिश की गई है। प्रथम दो आलेख पुस्तक के संपादक डॉ० रामशोभित प्रसाद सिंह के हैं। "भोजपुरी भाषा और साहित्यः एक संक्षिप्त परिचय" में उन्होंने भोजपुरी भाषा के प्रारंभिक काल (600 ई०) से वर्तमान काल तक के डेढ़ हजार वर्ष के कालखंड को पाँच चरणों में विभक्त किया है। इसमें उन्होंने भोजपुरी साहित्य के विपुल भंडार पर एक विहंगम नजर डाली है। अपने दूसरे आलेख में उन्होंने 'भोजपुरी लोकगीतों में 1857 की गूंज' पाठकों को सुनाने की कोशिश की है। तीसरा आलेख '1857 और वीर कुँवर सिंहः देशभक्ति बनाम प्रगतिशीलता के संदर्भ' (ले०–डॉ० नीरज सिंह) महान स्वतंत्रता सेनानी वीर कुँवर सिंह पर केन्द्रित है। वीर कुँवर सिंह पर केन्द्रित डॉ० चितरंजन प्रसाद सिंह का आलेख 'लोकगीतों में वीर कुंवर

सिंह' भी शोधपूर्ण आलेख है। भोजपुरी साहित्य पर केन्द्रित डॉ० शांति जैन का आलेख 'सन् 1857 का स्वतंत्रता संग्राम और भोजपुरी लोक साहित्य' और वंशीधर सिंह का 'लोकभाषा में सन् सत्तावन में मुक्ति संग्राम की ध्वनियाँ' आलेख अनेक नवीन तथ्यों से पाठकों को अवगत कराता है। हिन्दी के यशस्वी विद्वान और कथाकार डॉ० कलानाथ मिश्र के दो आलेख पुस्तक में संगृहीत हैं। 'मिथिला के लोकगीतों में स्वतंत्रता आंदोलन की झलक' शीर्षक आलेख में उन्होंने मिथिला की संस्कृति को सहेजने की सफल कोशिश की है। कहा जाता है कि लोकगीतों के बिना मिथिला की संस्कृति और जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। उत्सव प्रेमी मिथिला के लोगों को जन्म से लेकर मृत्यु तक के जीवन में पग-पग पर रीति-रिवाज और उनके गीत उन्हें जीवन से जोड़कर रखते हैं। लेखक के शब्दों में- "लोकगीत हमें जीने की कला सिखाता है। वह मिथिला की संस्कृति का मेरुदंड है। वह मिथिला की आत्मा है।" अपने दूसरे आलेख- 'मिथिला के लोकगीतों में स्वतंत्रता आंदोलन की झलक' में डॉ० कलानाथ मिश्र ने छेदी झा मधुप, सीताराम झा, चंदा झा द्विजवर की ओजपूर्ण पंक्तियों के साथ-साथ उन लोगगीतों की विस्तार से चर्चा की है जिन्हें सुनकर और सुनाकर मिथिलांचल में स्वतंत्रता संग्राम का अलख जगाया गया था।

इसी तरह मगही पर केन्द्रित दो आलेख पुस्तक में संगृहीत हैं। 'मगही लोक साहित्य: परिचयात्मक अध्ययन' शीर्षक से डॉ० सत्येन्द्र कुमार सिंह 'सुमन' का आलेख है जबकि दूसरा आलेख घमंडी राय लिरीवत का 'मगही लोकगीतों में 1857 का स्वतंत्रता संग्राम' शीर्षक से है। प्रश्नोत्तर शैली में दो चरवाहों के इस संवाद में 1857 के वीरों को इन पंक्तियों में देखा जा सकता है:-

प्र० "अमर सिंह के कमर टूटलैन, कुंवर सिंह के वाहिं।
पुजिओं ग दलभंजन सिंह से, अब लड़ता की नाहिं?"

उ० "हाथी बेचव घोड़ा बेचव, सिपाही के खिआयब।
लरबै न त करब की, हसी की करायब।"

बाबू वीर कुँवर सिंह के बलिदान के पश्चात मगध के गाँव टोले में गूंजने वाले इस लोकगीत को सुनकर आज भी लोग प्रेरित होते हैं-

"बूढा भारत के कमर टूटल, ओकरा में मरऽ जवानी तू।
करऽ दुनिया के निरमान नया, आगे के गढ़ऽ कहानी तू।"

अंगिका लोक साहित्य पर केन्द्रित तीन आलेख डॉ० नरेश पाण्डेय चकोर और ओमप्रकाश पाण्डेय 'प्रकाश' के हैं। ओम प्रकाश पाण्डेय प्रकाश ने अंगिका लोक साहित्य में स्वतंत्रता संग्राम के स्वर को पाठकों तक पहुँचाने का सद्प्रयास किया है।

बज्जिका लोक साहित्य में स्वाधीनता संग्राम की गूंज को तलाशने के कार्य को बखूबी अंजाम दिया है मुनीश्वर राय मुनीश ने।

सिंह सेनापति के जगलईं, रण के राग,

खंजर रहल खनकल वृज्जि जन जाग,

पानी हई खउलत वृज्जि जन जाग।

गली-गली में गूंजने वाली ऐसी पक्तियों को सुन स्वाधीनता की ज्वालामुखी और दहक उठी।

पुस्तक में संकलित 18वाँ आलेख झारखंड की भाषाओं के लोक साहित्य में स्वाधीनता की पहली क्रांति को रेखांकित करने वाला है जिसे युवा साहित्यकार अभिषेक अवतंश ने तैयार किया है। बिहार-झारखंड की भाषाओं के लोक साहित्य में 1857 स्वतंत्रता संग्राम की ओजपूर्ण रचनाओं पर केन्द्रित संभवतः यह पहली समग्र पुस्तक है। इस पुस्तक को पढ़ते हुए 1857 के संग्राम की शौर्यगाथा, ललकार, पीड़ा और आह्वान की गूंज को महसूस किया जा सकता है। पुस्तक में संगृहीत दर्जनभर विद्वान और विदुषियों के शोधपूर्ण आलेखों ने इसे संग्रहनीय बना डाला है। इसे पढ़कर हमें अपने विपुल और समृद्ध लोक साहित्य पर भी गौरव होता है। ऐसी पठनीय और संग्रहनीय पुस्तक के लिए संपादक रामशोभित प्रसाद सिंह बधाई के पात्र हैं।

समीक्षा पुस्तक	:	1857 का स्वतंत्रता संग्राम और बिहार का लोक साहित्य
संपादक	:	डॉ० रामशोभित प्रसाद सिंह
प्रकाशक	:	श्लोक प्रकाशन, गाँधीनगर, दरभंगा
मूल्य	:	450 रूपये (चार सौ पचास रुपये)

❑❑❑

मैथिलीशरण गुप्त की समन्वयवादी भावना

चिरंजीव

कथा साहित्य में जो प्रसिद्धि प्रेमचन्द को मिली वही कविता के क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त को। व्यापक जन-जीवन के साथ जुड़ाव लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण बना । पारिवारिक पृष्ठभूमि ने जो वैष्णवी संस्कार दिए वह इनकी रचनाधर्मिता को गहरे स्तर पर ले जाती है । प्राय: आलोचकों द्वारा इन पर हिन्दूवादी होने का ठप्पा लगाया जाता रहा है । धार्मिक कवि की संज्ञा दे इनकी रचना को नजरअंदाज करने की बात पुरानी नहीं है । लोक में इनको जितनी प्रसिद्धि मिली समीक्षकों ने उतना ही उपेक्षित रखा । अभी भी इन पर व्यापक लेखन की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता ।

मैथिलीशरण गुप्त की रचना जिस अर्थ में उद्वेलित करती है वह है-समन्वयवादी भावना । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं, ''गुप्तजी वास्तव में सामंजस्यवादी कवि हैं, प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करने वाले अथवा मद मे झूमने (या झीमने) वाले कवि नहीं, सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त है । प्राचीन के प्रति पूज्यभाव और नवीन के प्रति उत्साह दोनों इनमें हैं''[1] कहना ना होगा कि जिस कवि की रचना में सांस्कृतिक अस्मिता अनुगूंजित हो उसमें भला समन्वय की विराट चेतना से कैसे इनकार किया जा सकता है? 'रंग में भंग' से जो कारवाँ प्रारंभ किया वह 'विष्णुप्रिया' तक अविराम चलता रहा। राष्ट्रीय एकता के तमाम उपादान धर्म, जाति, लिंग, भाषा संस्कृति, क्षेत्र इत्यादि रचना के केन्द्रीय विषय हैं। आज जहाँ हमारे देश में विघटनकारी शक्तियाँ सिर उठा रही हैं, राजनीति का लाघव स्वरूप देश को घुन की तरह खाए जा रहा है ऐसे में गुप्तजी की प्रासंगिकता के बारे में पूछना अपने आपको कठघरे में रखना है। बात

मैथिलीशरण गुप्त की रचना जिस अर्थ में उद्वेलित करती है वह है-समन्वयवादी भावना । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं, ''गुप्तजी वास्तव में सामंजस्यवादी कवि हैं, प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करने वाले अथवा मद मे झूमने (या झीमने) वाले कवि नहीं, सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्यभाव और नवीन के प्रति उत्साह दोनों इनमें हैं'' कहना ना होगा कि जिस कवि की रचना में सांस्कृतिक अस्मिता अनुगूंजित हो उसमें भला समन्वय की विराट चेतना से कैसे इनकार किया जा सकता है?

महात्मा गाँधी द्वारा 'राष्ट्रकवि' की उपाधि प्रदत्त करने की है। राष्ट्रकवि वही हो सकता है जो भारतीयता को सही अर्थों में परिभाषित करे। भारतीयता की परिभाषा धर्म व जाति की संकीर्ण दीवारों में कैद करके नहीं दी जा सकती। यह तो – ''भीतर का भाव है। वह भाव है, जो वैदिक, बौद्ध, जैन, मुस्लिम आदि के खण्डों में न होकर एक अखण्ड यात्रा के रूप में रही है । अनेक अनुभवों के हम साझीदार रहे हैं और इस साझेदारी को ग्रहण करने वाला मानस ही सच्चा मानस है।'' 2 गुप्तजी को बखूबी अहसास था कि साहित्य-संस्कृति अपनी समग्रता की पहचान से ही कालजयी हो सकती है । और तो और, देश की बेहतर दिशा व दशा का निर्धारण भी तभी संभव है, जब द्वन्द्वात्मक स्थितियों के उत्पन्न होने की संभावना क्षीण हो। गुप्तजी का कवि कर्म हमेशा इसी संभावना की तलाश में रहा। इसी को ध्यान में रखते हुए 'गुरुकुल', 'काबा और कर्बला', 'अर्जन-विसर्जन', 'जेनी', 'विष्णुप्रिया', 'यशोधरा', 'हिन्दू', 'भारत-भारती' इत्यादि काव्यों की सर्जना की। इनकी सर्जनशीलता का ही परिणाम है कि ये विविध संस्कृतियों को एकात्म रूप में देखते हैं।

गुप्तजी हमेशा भेद-अभेद से परे रहे। उनका यही जीवन काव्य में भी परिलक्षित होता है। उदार हृदय दद्दा अपने काव्य को कभी संकीर्णताओं में सिमटने नहीं दिया। जिस प्रकार उनका हृदय दीवार कपाट रहित है कोई भी, कभी भी आकर उनका आशीर्वाद प्राप्त कर सकता है ठीक उसी प्रकार काव्य भी विश्वजनीन है । उनका काव्य ऐसा मुक्ताकाश मंच है जहाँ सबके लिए यथोचित स्थान है । निम्न पंक्तियों में इसे बेहतर तरीके से समझा जा सकता है:

विश्व परिवार है उदार दृष्टि वालों का ।

X X X X

अर्पित हो मेरा मनुज काय,
बहुजन सुखाय बहुजन हिताय।

कैवल्य काम भी काम, स्वधर्म धरे हम,
संसार हेतु शत बार सहर्ष मरें हम ।

X X X X

व्यथित हो रहा मेरे कारण सारा स्त्री-संसार है,
मुझ पर कृपा कोप स्वामी पर करतब बारम्बार है।
कहते हैं 'नारी पर नर का कितना अत्याचार है !
लगता है विद्रोह मात्र ही अब इसका प्रतिकार है ।'

X X X X

गुह निषाद, शवरों का मन रखते हैं प्रभु कानन में,
क्या ही सरल वचन रहते हैं इनके भोले आनन में !
इन्हें समाज नीच कहता है पर हैं ये भी तो प्राणी,
इनमें भी मन और भाव हैं किन्तु नहीं वैसी वाणी।

X X X X

भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया;
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया ।

यह अंत नहीं, यह तो सिर्फ बानगी भर है। इनकी हर रचना समन्वय की भावना से ओतप्रोत है । गुप्तजी भारतीय संस्कृति के सच्चे संवाहक हैं। भारतीय संस्कृति की अक्षुण्ण धारा आदिकाल से अद्यतन काल तक प्रवाहित हो रही है। इसके प्रवाह में धर्म, जाति, लिंग, भाषा, क्षेत्र, दर्शन इस कदर घुल-मिल गए हैं कि इसकी सतरंगी छटा विश्व को आलोकित कर रही है। गुप्तजी का काव्य इसमें नई जीवन दृष्टि देता है। इनका जीवन दर्शन मानवतावादी मूल्यों पर आधृत है। तभी तो भूतल को स्वर्ग बनाने की बात की जाती है। यहाँ सबसे बड़ा सवाल है कैसे ? दंभ, दुर्बलता, आलस्य, ईर्ष्या इत्यादि न जाने कितने मनोविकार हमारी अंत:चेतना में घर कर गए हैं जिसका बिना विरेचन किये विकास की बात करना हवा में तीर मारने जैसा है। यहाँ गुप्तजी का काव्य अतीत का गौरव गायन मात्र नहीं है, बल्कि अतीत के झरोखे से वर्तमान को झाँकने की कोशिश है ।

त्रिलोचन पांडेय 'सिद्धराज' की चर्चा के क्रम में कहते हैं- ''इसी काव्य में एक स्थान पर हिन्दूधर्म और इस्लाम का समन्वय कराने का प्रयास किया गया है। स्वयं हिन्दूधर्म के अन्तर्गत जिस प्रकार उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों के एकीकरण का प्रयास किया उससे इस जीवन दर्शन की सम्यक व्याख्या होती है। हिन्दू को कहीं हिन्दुत्व के प्रति उद्‌बोधित किया। कहीं 'वैतालिक' और 'स्वदेश संगीत' द्वारा स्वधर्म का स्मरण कराया और कहीं 'गुरुकुल' शीर्षक रचना लिखकर सिक्खों को भी हिन्दू जाति के भीतर समाविष्ट मानकर राष्ट्रभक्ति का संदेश दिया। हमारे देश के इतिहास में सिक्खों के गुरुकुल का मुसलमानों से संघर्ष होता रहा है किन्तु लेखक ने दोनों जातियों के बीच पूरा सद्‌भाव प्रकट किया है। इन उदाहरणों से लेखक की व्यापक सहिष्णुता का बोध ही नहीं होता, जो सर्वधर्म समन्वय की धुरी है, बल्कि राष्ट्रीय जागरण के लिए प्रत्येक धर्म को सर्वमान्य बनाने का प्रयास भी दृष्टिगोचर होता है।''3

समन्वय का हर रूप उन्हें स्वीकार्य था। भूत, वर्तमान तथा भविष्य का सामंजस्य रचना की अर्थवत्ता के लिए ही नहीं, अपितु रचनाकार की कालजयिता के लिए भी आवश्यंभावी है। अतीत को देखकर वर्तमान को भोगने वाला ही बेहतर भविष्य में संभावनाएँ तलाश सकता है। गुप्तजी की रचनाओं में अतीत से सम्मोहन नहीं है, बल्कि वह नींव की ईट है जिसपर वर्तमान एवं भविष्य की इमारत खड़ी की जा सकती है ।

यहाँ एक पंक्ति उदाहरण स्वरूप लेते हैं-

हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी,

आओ, विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी ।

भूत, वर्तमान तथा भविष्य का मणि-कांचन संयोग गुप्त की रचनात्मक विशेषता है। इनकी समन्वय भावना के बारे में कहा जा सकता है कि वे स्वयं मधुमक्खी की भाँति काव्य में मधु-संचयन करते हैं जिसमें राष्ट्र के ही नहीं, अपितु अखिल विश्व का मधु समाहित है- '' 'जयभारत' में हिमाच्छादित स्वर्णाभ प्रदेश, राम काव्य में सुदूर दक्षिण का वनप्रान्तर, आक्षितिज अथाह जलराशि, 'सिद्धराज' में कुमकुम वर्णी पश्चिमी प्रान्त, 'विष्णुप्रिया' में धन-धान्यों से भरा हुआ पर्व का हरा भरा रम्य प्रदेश और निरभ्र आकाश! सप्त नदियों और सप्त तीर्थों का देश, राम और कृष्ण की लीला भूमि, बहु कल-कल खगों की आश्रय स्थली ! प्रकृति का पुण्य लीला स्थल!''4 राजनीति का समन्वयात्मक रूप इनकी रचना को अलग पहचान देता है । 'राजा-प्रजा' काव्य में जिस पंक्ति पर पहले-पहल नजर जाती है वह यह है-

राजा जाता है और प्रजा आती है,

यह दोनों की सम्मिलित एक थाती है ।

राजा हो या प्रजा उसके समग्र रूप से गुप्तजी अवगत थे। साहित्य सर्जना के क्षेत्र में इनका आगमन उस समय होता है जब देश स्वतंत्रता आन्दोलन रत था। तदोपरांत गांधी, तिलक एवं नेहरू के हाथ में राजनीति आ जाती है। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद भी राजनीति को नई दिशा देने में लगे थे। गुप्तजी का काव्य इन तमाम के सम्मिलित प्रभाव का प्रतिफल है। इनके काव्य पर सिर्फ एक का प्रभाव बतलाना सीमाओं का संकुचन करना है। आजादी के बाद प्रजातंत्र की स्थापना, बाद में मोहभंगता- इन सारे बिन्दुओं को रेखाकिंत करती है गुप्त की कविता।

कई जगहों पर इनके बारे में लिखा गया है कि इन्हें अंग्रेजी का अल्पज्ञान था। क्या इससे यह कहा जा सकता है कि इनका विज़न कमजोर था या साहित्यिक फलक संकुचित था? इन्होंने कवीन्द्र रवीन्द्र, माइकेल मधुसूदन दत्त, खैयाम इत्यादि स्वनामधन्य रचनाकारों की रचनाओं का अनुवाद साफगोई के साथ किया है। यद्यपि खड़ी बोली को पाल-पोसकर बड़ा किया तथापि भाषा की बंदिशें इन्हें स्वीकार न थीं। 'उर्मिला विलाप', 'साकेत', 'मेघनाद-वध' काव्य इसका ज्वलंत उदाहरण है। गुप्तजी ऐसे कवि हैं जो तमाम वादों-विवादों के बीच भी निर्विवाद रहे। सच कहा जाए तो इनकी रचना निर्वैयक्तिक, सार्वकालिक व सार्वभौमिक है। सच्चे अर्थों में गुप्तजी युग-पुरुष हैं। इनके चरित्र को उद्घाटित करते हुए कृष्ण दत्त पालीवाल लिखते हैं - ''मैथिलीशरण गुप्त भले ही भारतेन्दु नहीं थे, मगर बहुत ही जिम्मेदार किस्म के कवि थे- अपनी अनुभूति के प्रति, युग प्रेरणा के प्रति, सांस्कृतिक परिस्थिति और परिवेश के प्रति, अपने अतीत और वर्तमान के प्रति। भारतीय संस्कृति के प्रति उनके मन में बड़ा गहरा अनुराग था, किन्तु उनकी संस्कृति एक

उधार कल्चर वाली अवधारणा न थी । न वे भारतीय संस्कृति को वैदिक संस्कृति, पौराणिक संस्कृति, बौद्ध-संस्कृति, जैन संस्कृति जैसे खानों में बाँटकर देखते थे, न उसे ऐन्द्रीय-भौतिक और आध्यात्मिक-संस्कृति का पर्याय मानते थे। उनके लिए समग्र भारतीय संस्कृति एक थी- उसे अलग-अलग प्रवाहों ने मिलकर बनाया है। इस प्रवाह को कवियों, साधकों, तांत्रिकों, दार्शनिकों ने मिलकर संस्कारित किया है। उनकी दृष्टि में बौद्ध-संस्कृति एक शाखा या एक कलम नहीं है, बल्कि वह भारतीय संस्कृति का ही एक रूप है, एक सांस्कृतिक रूपान्तरण है। अन्य संस्कृतियाँ मानव की चिंता करती हैं, पर भारतीय संस्कृति मानव और मानवता दोनों की चिंता करती है।''5

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि सामंजस्यवादी स्वरूप का ही प्रभाव है कि हर कोई अपनी प्रेरणा का उत्स इनके काव्य में पाता है। भारतीयता का जो अहसास गुप्तजी दिलाते हैं। सचमुच वह इनकी राष्ट्रवादी भावना को चिन्हित करता है। विराट चेतना से ओत -प्रोत काव्य की समीक्षा जितनी भी की जाय कम ही है। निस्संदेह मैथिलीशरण गुप्त राष्ट्रीय एकता के प्रतीक के रूप में जाने जाएँगे।

संदर्भ सूची-

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.सं. 364
2. मैथिलीशरण गुप्त: प्रासंगिकता के अन्त:सूत्र, कृष्णदत्त पालीवाल, पृ.सं. 19
3. राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त: प्रकाशन विभाग, पृ.सं. 97
4. वही पृ.सं. 172
5. मैथिलीशरण गुप्त: प्रासंगिकता के अन्त:सूत्र, कृष्णदत्त पालीवाल, पृ.सं. 80

❑❑❑

जे०आर०एफ०(हिन्दी साहित्य), शोधछात्र, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया, ग्राम+पत्रालय-नेरूत जिला-नालन्दा (बिहार) मो०-9472467261

दलितों को ओमप्रकाश वाल्मीकि का 'सलाम'

रविशंकर

हिन्दी साहित्य तमाम उत्कृष्टताओं, बौद्धिक कलाबाजियों, आध्यात्मिक आख्यानों, भाषिक विलक्षणताओं, कला-प्रतिमानों के बावजूद मेरे मन में विश्वास उत्पन्न करने में क्यों असमर्थ है साहित्य की यह मुख्य धारा मुझे आकर्षित क्यों नहीं कर पाती? मैं उससे अलग खड़ा अपनी राह तलाशना चाहता हूँ। ये तमाम प्रश्न मुझे बेचैन करते हैं। साहित्य के तमाम सार्वभौमिक तत्व मुझे लिजलिजे लगते हैं, सामंती सोच से निकले हुए जहाँ संघर्ष भावना और दृष्टिकोण के लिए जगह नहीं है।

विगत कुछ महीनों में हमलोगों ने कई साहित्यकार खो दिए, किन्तु हमारे लिए जो खास रहे वे हैं–ओमप्रकाश वाल्मीकि। स्वास्थ्य उपकरण के सहारे कई दिनों तक असाध्य बीमारी को लिए हुए जिन्दगी और मौत के बीच जद्दोजहद करते रहे। अंत में शरीर ने साथ छोड़ दिया बाबजूद इसके, साथ होने का अहसास नहीं छोड़ सका हूँ। जिस सामाजिक पृष्ठभूमि में मेरा जन्म हुआ, पला-बढ़ा परिणामस्वरूप कई अवधारणाएँ स्वतः अन्तर्समाहित हो गईं। जो संस्कार मेरे अंदर गढ़े गए उसमें जातिवादी भावना का स्थान सबसे ऊपर है। सर्वश्रेष्ठ कहलाने के लिए पीटा जाता ढिंढोरा, चाकू की तरह चलती जुबान, पथरायी प्यासी आँखें, मनोवांछित कार्य न होने पर सिंहनाद जैसी चीज बाल्यकाल से ही देखता आ रहा हूँ। पिताजी और दादाजी के जुबान से भी अपने पुरुषत्व की महिमा कई दफा सुन चुका हूँ। अम्बेदकर या वाल्मीकि की रचना से तो परिचय बाद में हुआ। उसके कई वर्ष पूर्व भीमल रविदास (ग्रामीण) की जुबानी सुन चुका हूँ, "स्कूल जाने की बात हमलोग सोच भी नहीं सकते थे अगर कोई चला जाता तो उसे गाली से संबोधित होना पड़ता। साथ-ही-साथ विद्यालय छोड़ने से पहले उस स्थान को धोना पड़ता।"

आधुनिकता तथा उत्तर आधुनिकता की तोता रटंत बातें कई बार सुन चुका हूँ, पर पता नहीं क्यों व्यवहार जगत के साथ उसकी तारतम्यता का अभाव ही देखता हूँ! मुझे यह कहने में कतई गुरेज नहीं कि शारीरिक धरातल पर इक्कीसवीं सदी में भले ही हों

पर हमारा मानसिक स्तर मध्यकालीन परिवेश का सा है। सामंती सोच रखने वाले लोगों ने जब कनस्तर और झाड़ू पकड़ने वाले हाथ में कलम देखी तो उनकी त्योरियाँ चढ़ गयीं, होंठ फड़फड़ाने लगे और पूरा-का-पूरा शरीर क्रोधाग्नि में जलने लगा। जिसकी लपट अभी भी गोहाना में कायम है। कहते हैं 'जिसके पैर न फटे बिवाई सो क्या जाने पीर पराई' । दलित विमर्श तथा स्त्री विमर्श के संदर्भ में ये बातें अक्षरशः सत्य हैं जिसे कोई भी बेबाकी से स्वीकार कर सकता है, भले ही आलोचकों की नजरों में यह विषय पानी का बुलबुला हो।

'सलाम' का पहला संस्करण मेरे सामने है, प्रकाशक-राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड। दलित विमर्श को मुकाम देने वाले लब्धप्रतिष्ठ आलोचक राजेन्द्र यादव को समर्पित यह पुस्तक हमारे सामने कई प्रश्न छोड़ जाती है। महज चौदह कहानी को लेकर संकलन भले ही किया गया हो मगर इसके अंदर 'सदियों का संताप' छुपा है। 'सलाम' जैसे रस्म के नाम पर अपने विचार को थोप देना किस हद तक उचित है? शादी के पश्चात् हरिया के पिता के लिए ऊहापोह की स्थिति बनी रही। हरीश स्पष्ट शब्दों में कह चुका है, "मुझे न ऐसे कपड़े चाहिए न बर्त्तन, मैं अपरिचितों के दरवाजे 'सलाम' पर नहीं जाऊँगा।"[1] उसका मानना है, और सही मानना है कि "आप चाहे जो समझें..... मैं इस रिवाज को आत्मविश्वास तोड़ने की साजिश मानता हूँ। यह 'सलाम' की रस्म बंद होनी चाहिए।"[2] परंपरा, रस्म, रीति-रिवाज के नाम पर शोषण आखिर कब तक....। अतीत का सम्मोहन क्यों? जिसकी प्रभूति जीवन के खुरदरे यथार्थ से हुआ हो, स्याह रंग से चोली-दामन का साथ हो, जातीय पहचान को टीका की तरह शरीर से चस्पाँ लिया हो उसे कालिदास के काव्य-लालित्य से क्या मतलब? वाल्मीकि जी लिखते हैं, "कुछ लोग जो अतीत पर गर्व कर सकते हैं, मेरे लिए अतीत एक भयावह स्याह रात है। जिसके गर्भ में असंख्य एकलव्य और शंबूक चीख रहे हैं, कितने ही कर्ण अपने जीवन रूपी धँसे रथ को कीचड़ से बाहर निकालने के संघर्ष में दिन-रात मारे जा रहे हैं। आजादी के साठ वर्ष बाद भी दलित महिलाओं को नग्न घुमाया जा रहा है। हर रोज बलात्कार की खबरें लोगों का मनोरंजन कर रही हैं। ये तमाम हादसे मुझे शांत और सहज नहीं होने देते।''

हिन्दी साहित्य तमाम उत्कृष्टताओं, बौद्धिक कलाबाजियों, आध्यात्मिक आख्यानों, भाषिक विलक्षणताओं, कला-प्रतिमानों के बावजूद मेरे मन में विश्वास उत्पन्न करने में क्यों असमर्थ है साहित्य की यह मुख्य धारा मुझे आकर्षित क्यों नहीं कर पाती? मैं उससे अलग खड़ा अपनी राह तलाशना चाहता हूँ। ये तमाम प्रश्न मुझे बेचैन करते हैं। साहित्य के तमाम सार्वभौमिक तत्व मुझे लिजलिजे लगते हैं, सामंती सोच से निकले हुए जहाँ संघर्ष भावना और दृष्टिकोण के लिए जगह नहीं है।

साथी रचनाकारों के अन्तर्द्वन्द्वों में भी दोहरी मानसिकताएँ लुकी-छिपी करती दिखाई पड़ती है। सामाजिक पर्त्तों में छिपी घृणा बहुत गहरे तक झकझोर देती है। उस वक्त लेखन मेरे लिए शगल नहीं, प्रतिबद्धता बन जाता है।"[3] यही प्रतिबद्धता लोगों को खल रही है। गीता में जिस निष्काम कर्म की बात की गई है, उसे व्यवहार जगत में उतारने का परिणाम यह हुआ कि हर बार हाशिए पर रखा गया। अग्रिम पंक्ति में आने की कही तो कह बैठे, "यार, जब उठने को कह रहे हैं तो उठते क्यों नहीं। जाओ, जाकर पीछे बैठो।"[4] सामंतवादी तथा ब्राह्मणवादी सोच रखने वाले ऐसे ही व्यक्ति समाज के विकास में बाधक हैं। क्या भारत का निर्माण सिर्फ सवर्णों से हुआ है? यदि शूद्रों का कार्य बाह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों की सेवा करना है तो भगवान विष्णु को क्या कहेंगे? उत्पत्ति की दृष्टि से भी शूद्र भगवान विष्णु की संतान है। क्योंकि ऐसी मान्यता है कि ब्रह्मा के पैर से शूद्र की उत्पत्ति हुई है और पैर में विष्णु का वास होता है। इसी तथ्य को ऋषि ने भी स्पष्ट किया है, "..... जब वह दिन-रात अपना खून-पसीना बहा रहा था, इस मंदिर को खड़ा करने में, तब आप नहीं जानते थे..... कि वह एस॰ सी॰ है। तब आपने क्यों नहीं कहा कि जो एस॰ सी॰ है वह मंदिर के काम में हाथ न बटाए, इसके चूने गारे में अपने जिस्म का पसीना न मिलाए, क्यों नहीं आपने ऐलान किया कि जो ईंट किसी एस॰ सी॰ ने बनाई है या पकाई है, ट्रकों में चढ़ाई या उतारी है, वे ईंटें उस मंदिर में नहीं लगेंगी। उस वक्त भी तो सोचना चाहिए था ..... ।"[5] जब तक वह आपके खेतों में रोपाई, निकाई, कुड़ाई, दमनी इत्यादि कार्य करता रहे तब तक अछूत नहीं है। जैसे ही अन्न का भण्डारण होता है वह अछूत ही नहीं होता, वरन उससे वंचित भी हो जाता है। 'कहाँ जाए सतीश' कहानी की समस्या सोचने के लिए विवश करती है। अपने-आप से भागकर आदमी कहाँ पनाह पा सकता है? जाति साये की तरह उसका पीछा करती है। सवाल सतीश का नहीं, बल्कि सतीश अपने आप में सवाल है। आखिर निश्चित को छोड़कर अनिश्चित की ओर कदम बढ़ाए तो जिम्मेदार किसे माना जा सकता है? एजाज साहब के सवाल पर सतीश का कहना है, "कौन से घर जाऊँ साहब..... बाप का घर इसलिए छोड़ा कि वे मुझे नगरपालिका में सफाई कर्मचारी की नौकरी दिलवाना चाहते थे। वे रिटायर होनेवाले हैं। वे अपने स्थान पर मुझे रखवा देने के लिए भागदौड़ कर रहे थे। उन्होंने नगरपालिका के साहब से बात भी कर ली थी। दो हजार की बात थी। जिसका इंतजाम मेरे पिता जी अपने फंड से करने की योजना बना चुके हैं। दो हजार रुपए देकर जिन्दगी भर के लिए मेरे हाथ में झाड़ू आ जाएगी। वे चाहते हैं कि मैं पढ़ाई-लिखाई छोड़कर इस नौकरी को कर लूँ। साहब, मैं सफाई कर्मचारी नहीं बनना चाहता.... मैं पढ़ना चाहता हूँ..... जिस मुहल्ले में हम रहते हैं, वहाँ मेरा दम घुटता है। इसलिए नहीं कि वे सब गरीब लोग या छोटे लोग हैं। बल्कि इसलिए कि जिस तरह का

जीवन वे जीते हैं–मैं उससे छुटकारा पाना चाहता हूँ। वे अपनी तकलीफों के इतने आदी हो गए हैं कि उसे अपनी नियति मान बैठे हैं। उनके भीतर हीनताबोध जड़ें जमा चुका है। जिससे बाहर निकलकर ही दुनिया को देखा जा सकता है। हजारों साल से मिट्टी में दबे लोहे के टुकड़े की मानिंद उनकी सोच पर भी जंग लग गया है।"[6]

सच तो यह है कि वर्तमान परिस्थिति से कोई भी इंसान संतुष्ट नहीं है। वह बेहतर की तलाश में मृगतृष्णा की भांति अनवरत् यादृच्छिक चाल में भाग रहा है। यहाँ सवाल जात का नहीं, जमात का है। ख्वाबों की रंग-बिरंगी दुनिया के बीच ही वह आवेष्टित होता है, तभी तो अपना समाज तथा घर-परिवार हिंसक पशु सदृश दीखता है। वहीं दूसरी तरफ हर व्यक्ति नकाब डाले हुए है। कहने के लिए तो समाज की पुरानी बंदिशें-वर्जनाएँ टूट रही हैं पर करने की बारी आती है तो स्थिति फटे ढोल की तरह हो जाती है। अपने आपको ऐजाज साहब के सामने खोलने का परिणाम क्या हुआ सतीश के लिए? वस्त्र डालने के बजाए उसकी नग्नता पर हँसने लगे। वाल्मीकि जी ने दिखलाया है, "ऐजाज साहब के शब्दों ने सतीश के विश्वास को काँच की तरह चटका दिया। वह इतनी दूर इसी भरोसे पर चलकर आया था कि ऐजाज का खोखलापन इतनी जल्दी उजागर हो जाएगा? यह सतीश ने नहीं सोचा था।" ।

सामंती शोषण को अभिव्यक्त करती कहानी है 'गोहत्या'। व्यवस्था की दमन चक्की में सिर्फ सुक्का ही नहीं, बल्कि सुक्का जैसे कितने नित्य प्रतिदिन पीस रहे हैं। कहते हैं ईश्वर के घर में सबके लिए न्याय है तो फिर क्यों, "सुक्का ने कभी किसी का बुरा नहीं किया। फिर भला वह गऊहत्या क्यों करेगा। इस बात को वे अच्छी तरह जानते थे। लेकिन पंचायत का विरोध करने का सामर्थ्य उनमें नहीं था। वे चुपचाप घुटनों पर सिर टिकाए जमीन को घूर रहे थे।" आज लोगों की जमीर मर गई है, बुद्धि-विवेक को गर्म तेल में बघार डाला है। 'ग्रहण' शीर्षक कहानी कई मिथक तोड़ देती है। बिरम की बहू का ग्रहण आखिरकार टूट ही जाता है। जिस स्तर तक रमेसर पहुँच जाता है, वहाँ जाति धर्म की बातें बेमानी हो जाती है।

'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' शीर्षक कहानी में सदियों से शोषण की परत के नीचे दबे इंसान की कुलबुलाहट को दिखाने का प्रयास है। चौधरी मदद के बहाने शोषण का जाल बुनता है जिसमें जो एक बार फँस गया, मृत्यु तक उसी में फँसा रह जाता है। सुदीप के पिता इस बात को नहीं समझ पाते। पुत्र के पच्चीस चौका सौ पढ़ने पर टोकते हुए कहते हैं, "नहीं बेट्टे.... पच्चीस चौका सौ नहीं..... पच्चीस चौका डेढ़ सौ..... ।"[8] पुत्र बार-बार किताब की दुहाई देता है पर पिताजी अपनी बात पर अड़ जाते हैं, "तेरी किताब में गलत बी तो हो सके .... नहीं तो क्या चौधरी झूठ बोल्लेंगे। तेरी किताब से कहीं ठाड्डे (बड़े) आदमी हैं चौधरी जी। उनके धोरे (पास) तो ये मोट्टी-मोट्टी किताबें हैं.... वह जो तेरा हेडमास्टर है वो बी पाँव छुए है चौधरी

जी के। फेर भला वो गलत बतावेंगे ..... मास्टर से कहना सही-सही पढ़ाया करें ...."?

संग्रह की सभी कहानियाँ अपने कलेवर में लिखी गई हैं जो हमें सोचने के लिए बाध्य करती हैं। वाल्मीकि जी दूसरे पर आरोप लगाने से पूर्व अपने गिरेबान में झाँकना नहीं भूलते। अपनी कमी को दूर करना ही हमारी ताकत है। अंधड़ में पिंकी के कथन ध्यातव्य हैं, "मैं नहीं जानती, सामाजिक सोच से आपका आशय क्या है? लेकिन डैड किसी भी बदलाव के लिए भागना तो समाधान नहीं होता। भागकर तो हम उसे बढ़ा देते हैं।"[10] पिंकी का यह सवाल उन सभी लोगों के लिए है जो जमीन से दूर कलमी पौधे बनते जा रहे हैं। अपनी कमजोरियों के लिए सिर्फ दूसरे पर दोषारोपण करते रहना किसी भी हद तक जायज नहीं। पिंकी पिता से सवाल करती है, "डैड इनसे अच्छा तो आपका अर्दली रहता है। आपने इसके लिए क्या किया? आई थिंक, यू हैव इग्नोर्ड देम (मुझे लगता है, आपने इन्हें नजरअंदाज किया है।) .... आपको ऐसा नहीं करना चाहिए था डैड। ये लोग क्या सोंचते होंगे आपके बारे में?"[11]

निष्कर्षत: यह सवाल ऊपर उठे उन लोगों के लिए है, जो अपनी पहचान छुपाने में लगे हैं। 'जिनावर', 'कुचक्र', 'अम्मा' इनकी मर्मस्पर्शी कहानियाँ हैं जो एक बार निश्चित तौर पर सोचने के लिए बाध्य करती हैं। वाल्मीकि जी की रचनाधर्मिता एवं अभिव्यक्ति की ईमानदारी उन्हें साहित्य जगत में अलग पहचान देती है।

संदर्भ सूची–

1. सलाम : ओमप्रकाश वाल्मीकि, प्रथम संस्करण, 2000 पृ॰ 16
2. सलाम : ओमप्रकाश वाल्मीकि, प्रथम संस्करण, 2000 पृ॰ 17
3. मुख्य धारा और दलित साहित्य : प्रथम संस्करण, 2009 पृ॰ 15
4. सलाम : ओमप्रकाश वाल्मीकि, प्रथम संस्करण, 2000 पृ॰ 28
5. वही पृ॰ 29
6. वही पृ॰ 55
7. वही पृ॰ 55
8. वहीं पृ॰ 80
9. वही पृ॰ 80
10. वही पृ॰ 92
11. वही पृ॰ 93

❑❑❑

ग्राम-जलालपुर, धनरूआ, पटना, मो॰ : 9135625868

चर्चित कथा संग्रह

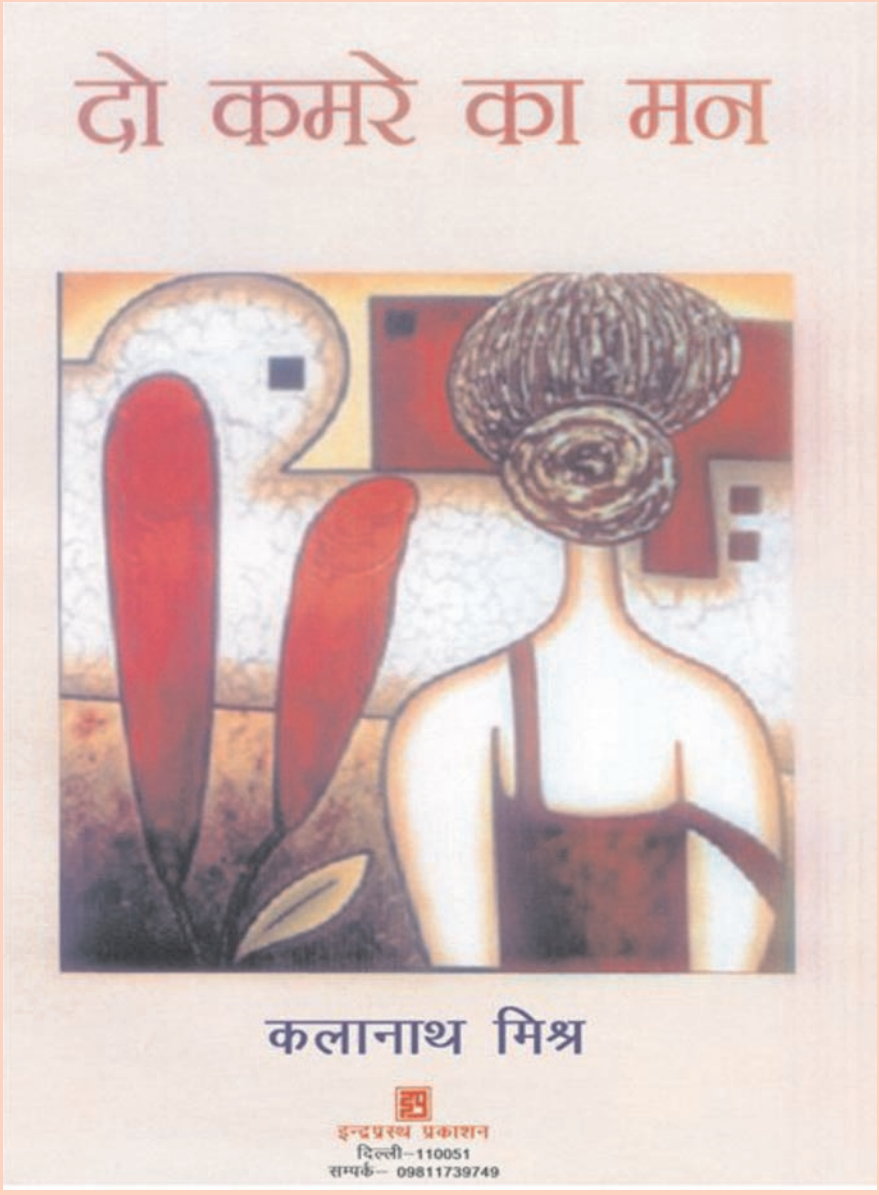

'दो कमरे का मन' की कहानियों में कहानीकार ने आज की उपभोक्तावादी और बाजारवादी विसंगतियों का पुरअसर उद्घाटन किया है। अच्छी बात यह है कि कथाकार ने अपनी ओर से कुछ नहीं कहा है सब कुछ कहानी को कहने दिया है और पाठक पर छोड़ दिया है कि वह अभिप्रेत अर्थ के साथ हो लें। कहानीकार में मनुष्यता की पहचान करने वाला 'विजन' आद्यंत व्याप्त हैं।

RNI No. BIHHIN05272
ISSN 2349 - 1906